महावीर-वाणी

प्रस्तावना लेखक

डॉ० भगवान्‌दास

संपादक

बेचरदास दोशी

सर्वोदय साहित्य माला
१०६वाँ ग्रंथ

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

शाखाएँ

दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर : वर्धा : कलकत्ता : इलाहाबाद

जनवरी १९४२, २०००

मूल्य

अजिल्द एक रुपया

सजिल्द डेढ़ रुपया

प्रकाशक

मार्तण्ड उपाध्याय

मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

समर्पण

पुण्यचेता श्री पुण्यविजयजी मुनि

तथा

पुण्यचेता उपाध्याय श्री अमरचंदजी मुनि
की विद्याचरण-संपत्ति को प्रस्तुत संपादनफल
सादर समर्पण करता हूँ।

बेचरदास
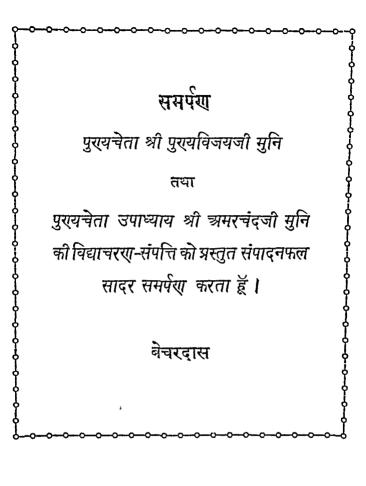
संपादकीय

'महावीर-वाणी' के इस रूप में आने की एक लम्बी कहानी है। बहुत दिनो से मेरी इच्छा थी कि एक ऐसे छोटे से ग्रन्थ के सकलन का आयोजन होना चाहिए जो जैनधर्म के प्रमुख अंगादि शास्त्रो का दोहन हो और जिसमें जैनधर्म का सर्वधर्मसमभाव-पूर्ण कार्य अच्छी तरह से प्रतिबिम्बित हो सके। जब मेरे स्नेही विद्यार्थी श्री शान्तिलाल वनमाली शेठ (न्यायतीर्थ, अध्यापक—जैन गुरुकुल, ब्यावर) ने जैन सूत्रो में से ऐसा संकलन करके मुझे दिखाया तो मैंने समझा कि मेरा संकल्प सिद्ध हुआ।

उक्त संकलन के संशोधन होने के बाद उस पर मेरे मित्र पडित प्रवर प्रज्ञाचक्षु श्री सुखलालजी संघवी (आचार्य जैनशास्त्र, हिंदू-विश्व-विद्यालय, काशी) की वेधक दृष्टि फिरी और पुनः उपयोगी संशोधन हुए। इस प्रकार 'महावीर-वाणी' प्रस्तुत हुई।

साथ ही 'सर्वारम्भाः तण्डुलप्रस्थमूला.'—न्याय से उसके लिए हमारे चिर-परिचित एक उदार मारवाड़ी सज्जन श्री मान-मलजी गोलेच्छा [प्रतिनिधि—शंकरलाल मानमलजी, खीचन (फलौधी, मारवाड़)] से अर्थ-सहायता भी उपलब्ध हो गयी। वह विद्याप्रेमी और विद्योपासक हैं, ज्ञानप्रचार और जनहित में सदैव

दत्तचित्त रहते हैं और राष्ट्र प्रेम में रगे हुए है। 'महावीर-वाणी' की रामकहानी सुनते ही उन्होने सत्वर भाई शान्तिलाल को उचित पारिश्रमिक-पारितोषिक भेंट करके उसके संपादन के लिए मुझे उत्साहित किया।

भाई मानमलजी की इच्छा थी कि 'महावीर-वाणी' का अधिक से अधिक प्रचार हो, अत उनके परामर्श से इसे 'सस्ता-साहित्य मंडल' (नई दिल्ली) द्वारा प्रकाशित कराने का निश्चय किया गया। 'मंडल' के सचालक-मंडल से इसके लिए शीघ्र ही स्वीकृति प्राप्त हो गयी और उसीका फल है कि यह ग्रन्थ पाठको के सामने है।

भाई मानमलजी ने सेवा-भावना से प्रेरित होकर तथा अपने काका की स्मृति में आयोजित 'गोलेच्छाग्रन्यमाला' के अन्तर्गत निकालने के पूर्व निश्चय का परित्याग करके यह ग्रन्थ प्रकाशनार्थ 'सस्ता-साहित्य-मंडल' को दिया है। अत. सबसे अधिक धन्यवाद के पात्र वे हैं। 'सस्ता-साहित्य-मंडल' के संचालक का भी मैं विशेष ऋणी हूँ।

मूल पाठ को ठीक-ठीक संशोधन तथा संपादन का भार भाई मानमलजी का सौंपा हुआ मैंने उठाया है और दिल्ली निवासी भाई गुलाबचन्द जैन के प्रबल अनुरोध से भारत प्रसिद्ध, समन्वयदर्शी विद्वद्वर डा० भगवान्दास जी ने इसकी प्रस्तावना लिखने की कृपा की है। अत हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

'वाणी' का हिन्दी भाषान्तर मेरे प्रिय विद्यार्थी श्री अमरचन्दजी मुनि (कवि—उपाध्याय) ने किया है और उसका संशोधन श्री वियोगी हरि ने करने की कृपा की है। इनका भी आभार मानना उचित है।

यद्यपि मैंने मूल के संपादन तथा संशोधन में भरसक सावधानी रखी है, तो भी मेरी आंखें कमजोर होने के कारण उसमें त्रुटियां रह जाना शक्य है; पाठकगण कृपया उन्हें क्षमा करें।

१२/ब, भारतीनिवास सोसाइटी,
अहमदाबाद नं० ६

बेचरदास जीवराज दोशी

प्रस्तावना

सन् १९३५ से सन् १९३८ ई० तक, सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली का सदस्य होने के कारण, मुझको, प्रति वर्ष, ढाई तीन महीने, माघ-फाल्गुन-चैत्र मे, नई दिल्ली मे रहना पडा। दिल्ली निवासी श्री गुलाबचन्द जैन, वहाँ, कई वेर, मुझसे मिलने को आये, और किसी प्रसंग में, श्री बेचरदासजी की चर्चा उन्होने की। सन् १९३९ मे, मार्च के महीने मे, गुलाबचन्द जी, किसी कार्य के वश, काशी आये, मुझसे कहा कि श्री बेचरदास जी ने, जो अब अहमदाबाद कालिज मे प्राकृत भाषा और जैन दर्शन के अध्यापक है, "महावीर-वाणी" नाम से एक ग्रन्थ का सकलन किया है, और उनकी बहुत इच्छा है कि तुम (भगवान्दास) उसकी प्रस्तावना लिख दो। मैंने उनको समझाने का यत्न किया, मेरा वयस ७२ वर्ष का, आँखे दुर्बल; सब शक्ति क्षीण, तीन चार ग्रथ अग्रेजी, हिन्दी, सस्कृत के, जिनके कुछ अश लिख और छप भी गये है, पूर्ण करने को पडे हुए, अन्य, सामाजिक जीवन मे अनिवार्य, झझटो की भी कमी नही, थोड़ा भी नया काम उठाना मेरे लिये नितान्त अनुचित, सर्वोपरि यह कि मै प्राकृत भाषा और जैन साहित्य से अनभिज्ञ। पर गुलाबचन्द जी ने एक नही माना, दिल्ली जाकर, पुन पुन मुझको लिखते

ही रहे, कि श्री वेचरदास जी ने निश्चय कर लिया है, कि विना मेरी प्रस्तावना के, ग्रथ छपेगा ही नही । इस प्रीत्याग्रह के आगे, मुझको मानना ही पडा।

श्री गुलावचन्द जी, "महावीर-वाणी" की हस्त-लिखित प्रति ले कर, स्वय काशी आये। मैने समग्र ग्रथ, अधिकाश उनसे पढवा कर, शेष स्वय देख कर, समाप्त किया। महावीर-स्वामी की, लोक के हित के लिये कही, करुणामयी, वैराग्य भरी, वाणी को सुन और पढ कर, चित्त मे श्रान्ति के स्थान मे प्रसन्नता ही हुई, और सात्त्विक भावो का अनुभव हुआ ।

महावीर स्वामी और गौतम वुद्ध, कुछ वर्षों की छुटाई वड़ाई से, समकालीन हुए—यह निर्विवाद है। किन्तु इन दोनो महापुरुषो के जन्म और निर्वाण की ठीक तिथियो के विषय मे ऐतिह्यविदो मे मतभेद है, तथापि यह सर्व-सम्मत है कि विक्रम पूर्व छठी शताब्दी मे दोनो ने उपदेश किया। जैन सम्प्रदायो का विश्वास है कि महा-वीर का, जिनका पूर्व-नाम "वर्धमान" है, जन्म, विक्रम पूर्व ५४२ और निर्वाण वि० पू० ४७०, में हुआ।

उस समय में "लिपि" कम थी, "श्रुति" और "स्मृति" की ही रीति अधिक थी, गुरु के, ऋषि के, महापुरुष के, आचार्य के वचनो को श्रोतागण सुनते और स्मृति में रख लेते थे। महावीर के निर्वाण के वाद दूसरी शताब्दी में वडा अकाल पडा, जिनानुयायी, "क्षपण"

वा "श्रमण" कहलाने वाले, साधुओ का सघ बहुत विखर गया; कण्ठ करने की परम्परा मे भग हुआ; वहुत उपदेश लुप्त हो गये। अकाल मिटने के वाद, स्थूलभद्राचार्य की देख रेख मे, पाटलिपुत्र मे सघ का वडा सम्मेलन हुआ; वचे हुए उपदेशो का अनुसन्धान और राशीकरण हुआ; पर लिखे नही गये। महावीर निर्वाण की नवी शताब्दी (वीर-निर्वाण ८२७-८४० तक) मे, मथुरा मे स्कदिलाचार्य, और वलभी मे नागार्जुन, के आधिपत्य मे, सम्मेलन होकर, उपदेशो का संग्रह किया गया, और उन्हे लिखवाया भी गया। निर्वाण की दसवी शताब्दी मे बहुत से श्रुतधारी साधुओ का विच्छेद हुआ। इस वेर, देवर्धिगणि क्षमा श्रमण ने अवशिष्ट सघ को वलभी नगर मे एकत्र करके उक्त दोनो, माथुरी और वलभी वाचनाओ, की समन्वयपूर्वक लिपि कराई। जिनोक्त सूत्र के नाम से प्रसिद्ध वाक्यो के सग्रहीता, यह देवर्धिगणि ही माने जाते है। उमा-स्वाति के "तत्त्वार्थाधिगम सूत्र", जो प्राय जिननिर्वाण के ४७१, अर्थात् विक्रम सवत् के प्रारम्भ, के लगभग, किसी समय मे, लिखे गये, और जिनमे जैनदर्शन का सार वहुत उत्तम रीति से कहा है, वे इनसे भिन्न है। देवर्धिगणि के संकलित सूत्र, आचाराग, सूत्रकृताग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, दशवैकालिक सूत्रादि को देखने का मुझे अवसर नही मिला। श्री वेचरदास जी ने, उन्ही सूत्रो मे से, स्वय महावीर स्वामी के कहे श्लोको का उद्धरण और सदर्भण, प्रस्तुत ग्रथ "महावीर-वाणी" मे किया है।

२५ सूत्रो, वा अध्यायो में, ३४५ प्राकृत श्लोको, और उनके हिन्दी अनुवादो का संग्रह है। मुझको नही ज्ञात है, कि जैन वाङ्मय में इस प्रकार का कोई ग्रंथ, प्राचीन, है वा नहीं। प्राय न होगा; अन्यथा श्री बेचरदास जी को यह परिश्रम क्यो करना होता। बौद्ध वाङ्मय में, एक छोटा, पर बहुत उत्तम ग्रंथ, "धम्म-पद" के नाम से, वैसा ही प्रसिद्ध है, जैसा वैदिक वाङ्मय में "भगवद्गीता"; "धम्म-पद" भी स्वयं बुद्धोक्त पद्यो का संग्रह कहा जाता है। संभव है कि "महावीर-वाणी", जैन सम्प्रदाय मे प्रायः वही काम देने लगे, जो बौद्ध सम्प्रदाय में धम्मपद देता है।

भेद इतना है कि, "महावीर-वाणी" के अधिकतर श्लोक, ससार की निन्दा करने वाले, वैराग्य जगाने वाले, यतिधर्म संन्यास-धर्म सिखाने वाले है, गृहस्थोपयोगी उपदेश कम है, पर हैं; विनय सूत्राध्याय में कितने ही उपदेश गृहस्थोपयोगी है।

मुझे यह देख कर विशेष आनन्द हुआ कि बहुतेरे श्लोक ऐसे है, जिनके समानार्थ श्लोक प्रामाणिक वैदिक और बौद्ध ग्रथो में भी बहुतायत से मिलते है। प्रथम मगलाध्याय के बाद के ६ अध्यायो में पाँच धर्मों की प्रशसा की है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। मनुस्मृति, बौद्ध पंचशील, योग-सूत्र आदि, इन्हीं पाँच का उपदेश करते हैं। ये, गृहस्थ, श्रावक, उपासक के लिये भी, देश-काल-समय के (शर्त के) अवच्छेद के साथ, उपयोगी हैं, और यति

सन्यासी, भिक्षु, क्षपण, श्रमण के लिये भी अधिकाधिक मात्रा मे, उन अवच्छेदो को दिन दिन कम करते हुए परमोपयोगी है; जब वह सर्वथा समयो (शर्तों) से अनवच्छिन्न हो जाते है, तब "महाव्रत" होकर सद्य मोक्ष के हेतु होते है।

अहिंस-सच्च च, अतेणग च, तत्तो य वम्भ, अपरिग्गह च,
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्म जिणदेसिय विद्।
—धम्मसुत्त, श्लोक २

ब्राह्मण सूत्राध्याय के भाव वैसे ही है, जैसे महाभारत के शाति-पर्व मे कहे हुए प्राय बीस श्लोको के है, जिनमे से प्रत्येक के अन्तिम शब्द यह है, "त देवा ब्राह्मण विदु"। धम्मपद से भी "ब्राह्मण वग्गो" मे ऐसे ही भाव के श्लोक है।

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो,
यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुची, सो च ब्राह्मणो।
न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्ति-सम्भवं,
अकिंचनमनादान, तमह ब्रूमि ब्राह्मणं। (धम्मपद)

"महावीर-वाणी" मे कहा है,

अलोलुपं, मुहाजीविं अणगारं अकिंचन,
असंसत्त गिहत्थेसु, त वय बुम माहण।

कम्मुणा वभणो होइ, कम्मुणा होई खत्तियो,
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा।
जैन आगम उत्तराध्ययन, अ० २५, गाथा २८-३२

कुछ लोगो को यह भ्राति होती है कि महावीर और वुद्ध ने वर्णव्यवस्था को तोडने का यत्न किया। ऐसा नही है; उन्होने तो उसको केवल सुधारने का ही यत्न किया है। महाभारत मे पुन पुन स्पष्ट शब्दो मे, वही वात कही है, जो महावीर ने कही है।

न योनिर्नापि सस्कारो, न श्रुत न च सतति',
कारणानि द्विजत्वस्य, वृत्तमेव तु कारणम्।
न विशेषोऽस्ति वर्णाना, सर्वं ब्राह्ममिद जगत्
ब्रह्मणा पूर्वसृष्ट हि, कर्मभिर्वर्णता गतम्।

महावीर ने और वुद्ध ने, दोनो ने, "कर्मणा वर्ण" के सिद्धान्त पर ही जोर दिया। यही सिद्धान्त, उत्तम वर्ण-व्यवस्था का मूल मत्र है, इसके न मानने से, इसके स्थान पर "जन्मना वर्ण." के अपसिद्धान्त की स्थापना कर देने से ही, भारतीय जनता की वर्त्तमान घोर दुर्दशा हो रही है।

यह खेद का स्थान है कि जैन सम्प्रदाय मे भी व्यवहारत जिनोपदिष्ट सिद्धान्त का पालन नही होता, प्रत्युत उसके विरोधी अप-सिद्धान्त का अनुसरण हो रहा है। मै आशा करता हूँ, कि

"महावीर-वाणी" के द्वारा, जैन सम्प्रदाय का ध्यान इस ओर आकृष्ट होगा, और सम्प्रदाय के माननीय विद्वान् यति जन, इस, महावीर के, समाज और गार्हस्थ्य के परमोपयोगी उपदेश, आदेश का जीर्णोद्धार अपने अनुयायियो के व्यवहार मे करावेगे।

अन्त मे, इतना ही कहना है कि मै, प्रकृत्या, समन्वयवादी, सम्वादी, सादृश्यदर्शी, ऐक्यदर्शी हूँ, विरोधदर्शी, विवादी, वैदृश्यान्वेषी, भेदावलोकी नही हूँ। मेरा यही विश्वास है कि सभी लोकहितेच्छु महापुरुषो ने उन्ही उन्ही सत्यो, तथ्यो, कल्याण-मार्गो का उपदेश किया है, जीवन के पूर्वार्ध मे लोक-यात्रा के साधन के लिये, और परार्ध मे परमार्थ-मोक्ष-निर्वाण-नि श्रेयस के साधन के लिये; भारत मे तो महर्षियो ने, महावीर स्वामी ने, बुद्ध देव ने, मुख्य मुख्य शब्द भी प्राय वही प्रयोग किये है।

'महावीर-वाणी' के अन्तिम 'विवाद सूत्र' मे, कई वादो की चर्चा कर दी है। और उपसहार बहुत अच्छे शब्दो मे कर दिया है—

एवमेयाणि जम्पन्ता, वाला पडितमाणिणो,
निययानियय सन्त, अयाणन्ता अबुद्धिया।

अर्थात्,

एवमेते हि जल्पन्ति, वाला पण्डितमानिन,
नियताऽनियतं सन्त, अजानन्तो ह्यवुद्धय।

यही आशय उपनिषत् के वाक्य का है,

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना,
स्वयंधीरा पण्डितम्मन्यमाना,
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा,
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा।

आज काल के पांडित्य मे, शब्द बहुत, अर्थ थोडा; विवाद बहुत, सम्वाद नही; अहमहमिका, विद्वत्ता-प्रदर्शनेच्छा बहुत, सज्ज्ञानेच्छा नही; द्वेष द्रोह बहुत, स्नेह प्रीति नही; असार-पलाल बहुत, सार-धान्य नही, अविद्या-दुर्विद्या बहुत, सद्विद्या नही; शास्त्र का अर्थ, मल्लयुद्ध। प्राचीन महापुरुषो के वाक्यो में, इसके विरुद्ध, सार, सज्ज्ञान, सद्भाव बहुत, असार और असत् नही। क्या किया जाय, मनुष्य की प्रकृति ही में, अविद्या भी है, और विद्या भी; दुःख भोगने पर ही वैराग्य और सद्बुद्धि का उदय होता है।

सा बुद्धिर्यदि पूर्वं स्यात् क पतेदेव बन्धने?

फिर फिर अविद्या का प्राबल्य होता है; वैमनस्य, अशांति, युद्ध, समाज की दुर्व्यवस्था बढ़ती है, सत् पुरुषो महापुरुषो का कर्तव्य है कि प्राचीनो के सदुपदेशो का, पुन पुन जीर्णोद्धार और प्रचार करके, और सब की एकवाक्यता, समरसता, दिखा के, मानवसमाज में, सौमनस्य, शांति, तुष्टि, पुष्टि का प्रसार करें, जैसा महावीर और बुद्ध ने किया।

जैन शास्त्र के प्रसिद्ध दो श्लोक, एक हिन्दी का और एक संस्कृत का, मैंने बहुत वर्ष हुए, श्री शीतलप्रसाद जी ब्रह्मचारी (जैन) से सुने; मुझे बहुत प्रिय लगे।

कला बहत्तर पुरुष की, वा मे दो सरदार,
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार।

आस्रवो बन्धहेतु स्यान् मोक्षहेतुश्च संवर,
इतीयम आर्हती मुष्टि सर्वमन्यत् प्रपञ्चनम्।

वैशेषिक सूत्र है,

यतोऽभ्युदय-नि श्रेयस-सिद्धि स धर्म ।

तथा वेदान्त का प्रसिद्ध श्लोक है,

बन्धाय विषयाऽऽसक्त, मुक्त्यै निर्विषय मन,
एतज् ज्ञान च मोक्षश्च, सर्वोऽन्यो ग्रन्थविस्तर.।

समय समय के सम्प्रदायाचार्य, यदि ऐसे विरोध-परिहार पर, सम्वाद पर, अधिक ध्यान दे और दिलावे, तो पृथ्वी पर स्वर्ग हो जाय। पर प्राय स्वय महा "आस्रव"-ग्रस्त होने के कारण, यति-भिक्षु-संन्यासी का रूप रखते हुए भी, भेद-बुद्धि, कलह, राग-द्वेष ही मनुष्यो मे बढाते हैं। यहाँ तक कि स्वय महावीर और बुद्ध के जीवनकाल मे ही, (यथा ईसा और मुहम्मद के जीवनकाल मे ही),

प्रत्येक के अनुयायियो में भेद हो गये, और एक के अनुयायी क्षपणो और दूसरे के अनुयायी श्रमणो, में मारपीट तक हुई, जिसका वर्णन क्षेमेन्द्र ने "अवदान-कल्पलता" काव्य मे किया है। और उन दोनो के निर्वाण के पश्चात् तो कितने ही भिन्न भिन्न 'पथ' प्रत्येक के अनुयायियो में हो गये। मैं आशा करता हूँ कि इन भेदो के मिटाने में, और सवाद बढाने में, यह 'महावीर-वाणी' सहायता करेगी।

काशी—
सौर १०-४-१९९७ वि०

भगवानदास

विषय-सूची

महावीर-वाणी

मंगल-सुत्तं

नमोक्कारो

नमो अरिहंताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्वसाहूणं ।

एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

मंगलं

अरिहंता मंगलं ।
सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं ।
केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं ।

: १ :

मङ्गल-सूत्र

नमस्कार

अर्हन्तो को नमस्कार,

सिद्धो को नमस्कार,

आचार्यो को नमस्कार,

उपाध्यायो को नमस्कार;

लोक (ससार) मे सब साधुओ को नमस्कार।

—यह पच नमस्कार समस्त पापो का नाश करनेवाला है, और सब मगलो मे प्रथम (मुख्य) मगल है।

मङ्गल

अर्हन्त मंगल है,

सिद्ध मगल है;

साधु मगल है,

केवली-प्ररूपित अर्थात् सर्वज्ञ-कथित धर्म मगल है।

लोगुत्तमा

अरिहंता लोगुत्तमा ।

सिद्धा लोगुत्तमा ।

साहू लोगुत्तमा ।

केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

सरणं

अरिहते सरणं पवज्जामि ।

सिद्धे सरणं पवज्जामि ।

साहू सरणं पवज्जामि ।

केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।

लोकोत्तम

अर्हन्त लोकोत्तम (संसार मे श्रेष्ठ) है,

सिद्ध लोकोत्तम है,

साधु लोकोत्तम है;

केवली-प्ररूपित धर्म लोकोत्तम है ।

शरण

अर्हन्तो की शरण स्वीकार करता हूँ,

सिद्धो की शरण स्वीकार करता हूँ;

साधुओ की शरण स्वीकार करता हूँ;

केवली-प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ ।

: २ :

धम्म-सुत्तं

(१)

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

(२)

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्म जिणदेसियं विदू ॥२॥

(३)

पाणे य नाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य नायए।
साइयं न मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥३॥

(४)

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥४॥

: २ :

धर्म-सूत्र

(१)

धर्म सर्वश्रेष्ठ मगल है।

(कौन-सा धर्म ?) अहिंसा, सयम और तप।

जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म मे सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते है।

(२)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतो को स्वीकार करके बुद्धिमान मनुष्य जिन-द्वारा उपदेश किये धर्म का आचरण करे।

(३)

छोटे-बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा न करे; अदत्त (विना दी हुई वस्तु) न ले, विश्वासघाती असत्य न बोले—यह आत्मनिग्रही सत्पुरुषो का धर्म है।

(४)

जरा और मरण के वेगवाले प्रवाह मे वहते हुए जीवो के लिए धर्म ही एकमात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है, और उत्तम शरण है।

(५)

अद्धाण जो महन्त तु, अप्पाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहा-तण्हाए पीडिओ ॥५॥

(६)

एवं धम्मं अकाऊण, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहीरोगेंहि पीडिओ ॥६॥

(७)

अद्धाणं जो महन्तं तु, सपाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहा-तण्हा-विवज्जिओ ॥७॥

(८)

एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥८॥

(९)

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥९॥

(५)

जो पथिक विना पाथेय लिये वडे लवे मार्ग की यात्रा पर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीडित होकर अत्यत दुखी होता है।

(६)

और जो मनुष्य विना धर्माचरण किये परलोक जाता है, वह वहाँ विविध प्रकार की आधि-व्याधियो से पीडित होकर अत्यत दुखी होता है।

(७)

जो पथिक वडे लवे मार्ग की यात्रा पर अपने साथ पाथेय लेकर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से तनिक भी पीडित न होकर अत्यत सुखी होता है।

(८)

और जो मनुष्य यहाँ भलीभाँति धर्म का आराधन करके परलोक जाता है, वह वहाँ अल्पकर्मा तथा पीडारहित होकर अत्यत सुखी होता है।

(९)

जिस प्रकार मूर्ख गाडीवान जान-बूझकर भी साफ-सुथरे राजमार्ग को छोडकर विषम (ऊँचे-नीचे, ऊबड-खाबड) मार्ग पर जाता है और गाडी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है—

(१०)

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गेव सोयई ॥१०॥

(११)

जहा य तिन्नि वाणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽत्थ लहइ लाभं एगो मूलेण आगओ ॥११॥

(१२)

एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥१२॥

(१३)

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरग-तिरिक्खत्तणं धुवं ॥१३॥

(१४)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पड़िनियत्तई ।
अहम्म कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥१४॥

(१०)

उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी धर्म को छोड़कर, अधर्म को ग्रहण कर, अन्त मे मृत्यु के मुँह मे पडकर जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।

(११)

तीन वनिये कुछ पूँजी लेकर धन कमाने घर से निकले। उनमे से एक को लाभ हुआ; दूसरा अपनी मूल पूँजी ही ज्यो-की-त्यो वचा लाया—

(१२)

तीसरा अपनी गाँठ की पूँजी भी गवाँकर लौट आया। यह एक व्यावहारिक उपमा है, यही वात धर्म के सम्वन्ध मे भी विचार लेनी चाहिए—

(१३)

मनुष्यत्व मूल है—अर्थात् मनुष्य से मनुष्य वननेवाला, मूल पूँजी को वचानेवाला है। देवजन्म पाना, लाभ उठाना है। और जो मनुष्य नरक तथा तिर्यक् गति को प्राप्त होता है, वह अपनी मूल पूँजी को भी गवाँ देनेवाला मूर्ख है।

(१४)

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते है, वे फिर कभी वापस नही आते; जो मनुष्य अधर्म (पाप) करता है, उसके वे रात-दिन बिल्कुल निष्फल जाते है।

(१५)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पड़िनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइम्रो ॥१५॥

(१६)

जरा जाव न पीड़ेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जार्विदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥१६॥

(१७)

मरिहिसि रायं! जया तया वा,
मणोरमे कामगुणे विहाय।
एक्को वि धम्मो नरदेव! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥१७॥

(१५)

जो रात और दिन एक वार अतीत की ओर चले जाते है, वे फिर कभी वापस नही आते; जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात और दिन सफल हो जाते है।

(१६)

जबतक बुढापा नही सताता, जबतक व्याधियाँ नही बढती, जबतक इन्द्रियाँ हीन (अशक्त) नही होती, तबतक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए—बाद मे कुछ नही होने का।

(१७)

हे राजन् ! जब कभी इन मनोहर काम-भोगो को छोडकर आप परलोक के यात्री बनेगे, तब एकमात्र धर्म ही आपकी रक्षा करेगा। हे नरदेव! धर्म को छोडकर जगत् मे दूसरा कोई भी रक्षा करनेवाला नही।

: ३ :

अहिंसा-सुत्तं

(१८)

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं ।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥१॥

(१९)

जावन्ति लोए पाणा, तसा अदुवा थावरा ।
ते जाणमजाणं वा, न हणे नो वि घायए ॥२॥

(२०)

सयं तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए ।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥३॥

(२१)

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥४॥

: ३ :

अहिंसा-सूत्र

(१८)

भगवान् महावीर ने अठारह धर्म-स्थानो मे सबसे पहला स्थान अहिसा का वतलाया है।

सव जीवो पर सयम रखना अहिसा है; वह सब सुखो की देनेवाली मानी गई है।

(१९)

ससार मे जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी है, उन सब को—क्या जान मे, क्या अनजान मे—न खुद मारे और न दूसरो से मरवाये।

(२०)

जो मनुष्य प्राणियो की स्वय हिसा करता है, दूसरो से हिसा करवाता है और हिसा करनेवालो का अनुमोदन करता है, वह ससार में अपने लिए वैर को ही वढाता है।

(२१)

ससार मे रहनेवाले त्रस और स्थावर जीवो पर मन से, वचन से और शरीर से,—किसी भी तरह दण्ड का प्रयोग न करे।

(२२)

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवह घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥५॥

(२३)

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स, पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥६॥

(२४)

पुढवी-जीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तण-रुक्खा सबीयगा ॥७॥

(२५)

अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एयावए जीवकाए, नावरे कोइ विज्जई ॥८॥

(२६)

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मईम पडिलेहिया ।
सव्वे अक्कन्तदुक्खा य, अओ सव्वे न हिंसया ॥९॥

(२२)

सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई भी नही चाहता। इसी-लिए निर्ग्रन्थ (जैन मुनि), घोर प्राणि-वध का सर्वथा परित्याग करते हैं।

(२३)

भय और वैर से निवृत्त साधक, जीवन के प्रति मोह-ममता रखनेवाले सब प्राणियो को सर्वत्र अपनी ही आत्मा के समान जान-कर उनकी कभी भी हिंसा न करे।

(२४)

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और तृण, वृक्ष, बीज आदि वनस्पति-काय—ये सब जीव अतिसूक्ष्म है, ऊपर से एक आकार के दिखने पर भी सब का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है।

(२५)

उक्त पाँच स्थावरकाय के अतिरिक्त दूसरे त्रस प्राणी भी है। ये छहो षड्जीवनिकाय कहलाते है। जितने भी ससार में जीव है, सब इन्ही छह के अन्तर्गत है। इन के सिवाय और कोई जीव-निकाय नही है।

(२६)

बुद्धिमान मनुष्य उक्त छहो जीव-निकायो का सब प्रकार की युक्तियो से सम्यग्ज्ञान प्राप्त करे और 'सभी जीव दु ख से घबराते हैं'—ऐसा जानकर उन्हे दु ख न पहुँचाये।

(२७)

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा—समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥१०॥

(२८)

संवुज्झमाणे उ नरे मईमं,
पावाउ अप्पाणं निवट्टएज्जा।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेरानुबन्धीणि महब्भयाणि ॥११॥

(२९)

समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करं ॥१२॥

(२७)

ज्ञानी होने का सार ही यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। 'अहिसा का सिद्धात ही सर्वोपरि है'—मात्र इतना ही विज्ञान है।

(२८)

सम्यग् वोध को जिसने प्राप्त कर लिया ऐसा वुद्धिमान मनुष्य हिंसा से उत्पन्न होनेवाले वैर-वर्द्धक एव महाभयकर दु खो को जानकर अपने को पापकर्म से बचाये।

(२९)

ससार मे प्रत्येक प्राणी के प्रति—फिर भले ही वह शत्रु हो या मित्र—समभाव रखना, तथा जीवन-पर्यन्त छोटी-मोटी सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करना—वास्तव मे बडा ही दुष्कर है।

: ४ :

सच्च-सुत्तं

(३०)

निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाऽऽउत्तेण दुक्करं ॥१॥

(३१)

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥२॥

(३२)

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाण, तम्हा मोसं विवज्जए ॥३॥

(३३)

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥४॥

: ४ :

सत्य-सूत्र

(३०)

सदा अप्रमादी और सावधान रहकर, असत्य को त्याग कर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिए। इस तरह सत्य बोलना बडा कठिन होता है।

(३१)

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरो के लिए, क्रोध से अथवा भय से—किसी भी प्रसग पर दूसरो को पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वय बोले, न दूसरो से बुलवाये।

(३२)

मृषावाद (असत्य) ससार मे सभी सत्पुरुषो द्वारा निन्दित ठहराया गया है और सभी प्राणियो को अविश्वसनीय है, इसलिए मृषावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

(३३)

अपने स्वार्थ के लिए, अथवा दूसरो के लिए, दोनो मे से किसी के भी लिए, पूछने पर पापयुक्त, निरर्थक एव मर्मभेदक वचन नही बोलना चाहिए।

(३४)

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥५॥

(३५)

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥६॥

(३६)

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥७॥

(३७)

सयं समेच्च अदुवा वि सोच्चा,
भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा,
न ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा ॥८॥

(३४)

श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी और दूसरो को दु ख पहुँ-चानेवाली वाणी न वोले।

श्रेष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय और हास्य से भी पाप-कारी वाणी न वोले। हँसते हुए भी पाप वचन नही बोलना चाहिए।

(३५)

आत्मार्थी साधक को दृष्ट (सत्य), परिमित, असदिग्ध, परि-पूर्ण, स्पष्ट, अनुभूत, वाचालता-रहित, और किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलनी चाहिए।

(३६)

भाषा के गुण तथा दोषो को भली भाँति जानकर दूषित भाषा को सदा के लिए छोड देनेवाला, षट्काय जीवो पर संयत रहनेवाला, तथा साधुत्व-पालन मे सदा तत्पर बुद्धिमान साधक एकमात्र हितकारी मधुर भाषा वोले।

(३७)

श्रेष्ठ धीर पुरुष स्वय जानकर अथवा गुरुजनो से सुनकर प्रजा का हित करनेवाले धर्म का उपदेश करे। जो आचरण निन्द्य हो, निदानवाले हो, उनका कभी सेवन न करे।

(३८)

सवक्कसुद्धि समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पससणं ॥९॥

(३९)

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेण चोरे त्ति नो वए ॥१०॥

(४०)

वितहं वि तहामुत्तिं, जं गिर भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए ॥११॥

(४१)

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥१२॥

(३८)

विचारवान मुनि को वचनशुद्धि का भली भाँति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदा के लिए छोड देनी चाहिए और खूब सोच-विचार कर बहुत परिमित और निर्दोष वचन बोलना चाहिए। इस तरह बोलने से सत्पुरुषो मे महान् प्रशसा प्राप्त होती है।

(३९)

काने को काना, नपुसक को नपुसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, फिर भी ऐसा नही कहना चाहिए। (क्योकि इससे उन व्यक्तियो को दु ख पहुँचता है।)

(४०)

जो मनुष्य भूल से भी मूलत असत्य, किंतु ऊपर से सत्य मालूम होनेवाली भाषा बोल उठता है, जब कि वह भी पाप से अछूता नही रहता, तब भला जो जान-बूझकर असत्य बोलता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या ?

(४१)

जो भाषा कठोर हो, दूसरो को दु ख पहुँचानेवाली हो—वह सत्य भी क्यो न हो—नही बोलनी चाहिए। क्योकि उससे पाप का आस्रव होता है।

: ५ :

अतेणग-सुत्तं

(४२)

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं से अजाइया ॥१॥

(४३)

तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं ।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥२॥

(४४)

उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पाएहि य संजमित्ता,
अदिन्नमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥३॥

(४५)

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च ।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि ॥४॥

: ५ :

अस्तेनक-सूत्र

(४२-४३)

सचेतन पदार्थ हो या अचेतन, अल्पमूल्य पदार्थ हो या बहु-मूल्य, और तो क्या, दाँत कुरेदने की सीक भी जिस गृहस्थ के अधिकार मे हो उसकी आज्ञा लिये बिना पूर्णसयमी साधक न तो स्वय ग्रहण करते है, न दूसरो को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते है, और न ग्रहण करनेवालो का अनुमोदन ही करते है।

(४४)

ऊँची, नीची, और तिरछी दिशा मे जहाँ कही भी जो त्रस और स्थावर प्राणी हो उन्हे अपने हाथो से, पैरो से,—किसी भी अग से पीडा नही पहुँचानी चाहिए। और दूसरो की बिना दी हुई वस्तु भी चोरी से ग्रहण नही करनी चाहिए।

(४५)

जो मनुष्य अपने सुख के लिए त्रस तथा स्थावर प्राणियो की क्रूरतापूर्वक हिंसा करता है—उन्हे अनेक तरह से कष्ट पहुँचाता है, जो दूसरो की चोरी करता है, जो आदरणीय व्रतो का कुछ भी पालन नही करता, (वह भयकर क्लेश उठाता है)।

(४६)

दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जण ।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ॥५॥

(४६)

दांत कुरेदने की सीक आदि तुच्छ वस्तुएँ भी बिना दिये चोरी से न लेना, (वडी चीजो को चोरी से लेने की तो वात ही क्या ?) निर्दोष एव एषणीय भोजन-पान भी दाता के यहाँ से दिया हुआ लेना, यह वडी दुष्कर वात है।

: ६ :

बंभचरिय-सुत्तं

(४७)

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥१॥

(४८)

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं ।
नाऽऽयरन्ति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥२॥

(४९)

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥३॥

(५०)

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥४॥

: ६ :

ब्रह्मचर्य-सूत्र

(४७)

काम-भोगो का रस जान लेनेवाले के लिए अब्रह्मचर्य से विरक्त होना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारण करना, बडा ही कठिन कार्य है ।

(४८)

जो मुनि सयम-घातक दोषो से दूर रहते है, वे लोक मे रहते हुए भी दु सेव्य, प्रमाद-स्वरूप और भयकर अब्रह्मचर्य का कभी सेवन नही करते ।

(४९)

यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महादोषो का स्थान है, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन-संसर्ग का सर्वथा परित्याग करते है ।

(५०)

आत्म-शोधक मनुष्य के लिए शरीर का शृगार, स्त्रियो का ससर्ग और पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन—सब तालपुट विष के समान महान् भयकर है ।

(५१)

न रूवलावण्णविलासहासं,
न जंपियं इंगिय-पेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥५॥

(५२)

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्साऽऽरियज्झाणजुग्गं,
हियं सया बंभवए रयाणं ॥६॥

(५३)

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी ।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥७॥

(५४)

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥८॥

(५१)

श्रमण तपस्वी स्त्रियो के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, काम-चेष्टा और कटाक्ष आदि का मन मे तनिक भी विचार न लाये, और न इन्हे देखने का कभी प्रयत्न करे।

(५२)

स्त्रियो को रागपूर्वक देखना, उनकी अभिलाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कीर्तन करना, आदि कार्य ब्रह्मचारी पुरुष को कदापि नही करने चाहिएँ। ब्रह्मचर्य व्रत मे सदा रत रहने की इच्छा रखनेवाले पुरुषो के लिए यह नियम अत्यत हितकर है, और उत्तम ध्यान प्राप्त करने मे सहायक है।

(५३)

ब्रह्मचर्य मे अनुरक्त भिक्षु को मन मे वैषयिक आनन्द पैदा करनेवाली तथा काम-भोग की आसक्ति बढानेवाली स्त्री-कथा को छोड देना चाहिए।

(५४)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियो के साथ बातचीत करना और उनसे बार-बार परिचय प्राप्त करना सदा के लिए छोड देना चाहिए।

(५५)

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लविय-पेहियं।
वंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥९॥

(५६)

कूइय रुइयं गीयं, हसियं थणियकन्दियं।
वंभचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥१०॥

(५७)

हास किड्डुं रइं दप्पं, सहस्साऽवत्तासियाणि य।
वंभचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥११॥

(५८)

पणियं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं।
वभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥१२॥

(५९)

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा, वंभचेररओ सया ॥१३॥

(५५)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को न तो स्त्रियो के अग-प्रत्यगो की सुन्दर आकृति की ओर ध्यान देना चाहिए, और न आँखो मे विकार पैदा करनेवाले हावभावो और स्नेह-भरे मीठे वचनो की ही ओर।

(५६)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियो का कूजन (बोलना), रोदन, गीत, हास्य, सीत्कार और करुण क्रन्दन—जिनके सुनने पर विकार पैदा होते है—सुनना छोड देना चाहिए।

(५७)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु स्त्रियो के पूर्वानुभूत हास्य, क्रीडा, रति, दर्प, सहसा-वित्रासन आदि कार्यों को कभी भी स्मरण न करे।

(५८)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शीघ्र ही वासना-वर्धक पुष्टिकारी भोजन-पान का सदा के लिए परित्याग कर देना चाहिए।

(५९)

ब्रह्मचर्य-रत स्थिरचित्त भिक्षु को संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए हमेशा धर्मानुकूल विधि से प्राप्त परिमित भोजन ही करना चाहिए। कैसी ही भूख क्यो न लगी हो, लालसावश अधिक मात्रा मे कभी भी भोजन नही करना चाहिए।

(६०)

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई ॥१४॥

(६१)

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमडणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥१५॥

(६२)

सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥१६॥

(६३)

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥१७॥

(६४)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥१८॥

(६०)

जैसे वहुत ज्यादा ईंधनवाले जगल मे पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नही होती, उसी तरह मर्यादा से अधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नही होती। अधिक भोजन किसी को भी हितकर नही होता।

(६१)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शरीर की शोभा और टीप-टाप का कोई भी शृगार-सम्वन्धी काम नही करना चाहिए।

(६२)

ब्रह्मचारी भिक्षु को शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के काम-गुणो को सदा के लिए छोड देना चाहिए।

(६३)

स्थिरचित्त भिक्षु, दुर्जय काम-भोगो को हमेशा के लिए छोड दे। इतना ही नही, जिनसे ब्रह्मचर्य मे तनिक भी क्षति पहुँचने की सभावना हो, उन सब शका-स्थानो का भी उसे परित्याग कर देना चाहिए।

(६४)

देवताओ-सहित समस्त ससार के दु ख का मूल एकमात्र काम-भोगो की वासना ही है। जो साधक इस सम्वन्ध मे वीत-राग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दु खो से छूट जाता है।

(६५)

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बम्भयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति ते ॥१६॥

(६६)

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्ति तहा परे ॥२०॥

(६५)

जो मनुष्य इस भाँति दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सब नमस्कार करते है।

(६६)

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल मे कितने ही जीव सिद्ध हो गये है, वर्तमान मे हो रहे है, और भविष्य मे होगे।

: ७ :

अप्परिग्गह-सुत्तं

(६७)

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥१॥

(६८)

धण-धन्न-पेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारंभ-परिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥२॥

(६९)

विड़मुब्भेइमं लोणं, तेल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्त-वओरया ॥३॥

(७०)

जं पि वत्थं च पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरन्ति य ॥४॥

: ७ :

अपरिग्रह-सूत्र

(६७)

प्राणिमात्र के सरक्षक ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नही बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का—आसक्ति का रखना बतलाया है।

(६८)

पूर्णसयमी को धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना होता है। समस्त पापकर्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है।

(६९)

जो सयमी ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) के प्रवचनो मे रत है, वे बिड और उद्भेद्य आदि नमक तथा तेल, घी, गुड आदि किसी भी वस्तु के संग्रह करने का मन मे सकल्प तक नही लाते।

(७०)

परिग्रह विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल, और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते है, वे सब एकमात्र सयम की रक्षा के लिए ही रखते है—काम मे लाते है। (इनके रखने मे किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नही है।)

(७१)

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण-परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽऽयरन्ति ममाइयं ॥५॥

(७२)

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे गिही, पव्वइए न से ॥६॥

(७१)

ज्ञानी पुरुष, सयम-साधक उपकरणो के लेने और रखने मे कही भी किसी भी प्रकार का ममत्व नही करते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नही रखते।

(७२)

सग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है। अतएव मैं मानता हूँ कि जो साधु मर्यादा-विरुद्ध कुछ भी सग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है—साधु नही है।

अराइभोयण-सुत्तं

(७३)

अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥१॥

(७४)

सन्तिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा।
जाइ राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ॥२॥

(७५)

उदउल्ल वीयसंसत्तं, पाणा निव्वडिया महिं।
दिया ताइं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ॥३॥

(७६)

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गया राइभोयणं ॥४॥

अरात्रि-भोजन-सूत्र

(७३)

सूर्य के उदय होने से पहले और सूर्य के अस्त हो जाने के वाद निर्ग्रन्थ मुनि को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नही करनी चाहिए ।

(७४)

ससार मे वहुत से त्रस और स्थावर प्राणी वडे ही सूक्ष्म होते है—वे रात्रि मे देखे नही जा सकते । तो रात्रि मे भोजन कैसे किया जा सकता है ?

(७५)

जमीन पर कही पानी पडा होता है, कही वीज विखरे होते है, और कहीपर सूक्ष्म कीडे-मकोडे आदि जीव होते है । दिन मे तो उन्हे देख-भालकर वचाया जा सकता है, परन्तु रात्रि मे उनको वचाकर भोजन कैसे किया जा सकता है ?

(७६)

इस भांति सव दोपो को देखकर ही ज्ञातपुत्र ने कहा है कि निर्गन्थ मुनि, रात्रि मे किसी भी प्रकार का भोजन न करे ।

(७७)

चउव्विहे वि आहारे, राईभोयण वज्जणा ।
सन्निही-सचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥५॥

(७८)

पाणिवह-मुसावाया-ऽदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ ।
राइभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥६॥

(७७)

अन्न आदि चारो ही प्रकार के आहार का रात्रि मे सेवन नही करना चाहिए। इतना ही नही, दूसरे दिन के लिए भी रात्रि मे खाद्य सामग्री का सग्रह करना निपिद्ध है। अत अरात्रिभोजन वास्तव मे वडा दुष्कर है।

(७८)

हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन—जो जीव इनसे विरत (पृथक्) रहता है, वह 'अनास्रव' (आत्मा मे पापकर्म के प्रविष्ट होने के द्वार आसव कहलाते है, उनसे रहित, अनास्रव) हो जाता है।

: ९ :

विणय-सुत्तं

(७९)

मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुवेन्ति साहा ।
साहा-प्पसाहा विरुहन्ति पत्ता,
तओ य से पुप्फं फलं रसो य ॥१॥

(८०)

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो ।
जेण कित्ति सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥२॥

(८१)

अह पंचहि ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भइ ।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण य ॥३॥

: ९ :

विनय-सूत्र

(७९)

वृक्ष के मूल से सबसे पहले स्कन्ध पैदा होता है, स्कन्ध के बाद शाखाएँ और शाखाओ से दूसरी छोटी-छोटी शाखाएँ निकलती है। छोटी शाखाओ से पत्ते पैदा होते है। इसके बाद क्रमश फूल, फल और रस उत्पन्न होते है।

(८०)

इसी भाँति धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनय के द्वारा ही मनुष्य वडी जल्दी शास्त्र-ज्ञान तथा कीर्ति सपादन करता है। अन्त मे, निश्रेयस (मोक्ष) भी इसीके द्वारा प्राप्त होता है।

(८१)

इन पाँच कारणो से मनुष्य सच्ची शिक्षा प्राप्त नही कर सकता :—

अभिमान से, क्रोध से, प्रमाद से, कुष्ठ आदि रोग से, और आलस्य से।

(८२-८३)

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सयादन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥४॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ॥५॥

(८४)

आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चइ ॥६॥

(८५-८८)

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चइ ।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥७॥
अप्पं च अहिक्खिवई, पबन्धं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयइ, सुयं लद्धुं न मज्जइ ॥८॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ ।
अप्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासइ ॥९॥
कलहडमरवज्जिए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥१०॥

(८२-८३)

इन आठ कारणो से मनुष्य शिक्षाशील कहलाता है—

हर समय हँसनेवाला न हो, सतत इन्द्रिय-निग्रही हो, दूसरो के मर्म को भेदन करनेवाले वचन न बोलता हो; सुशील हो; दुराचारी न हो, रसलोलुप न हो, सत्य मे रत हो, क्रोधी न हो—शान्त हो।

(८४)

जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इगितो तथा आकारो को जानता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है।

(८५-८८)

नीचे के पन्द्रह कारणो मे बुद्धिमान मनुष्य सुविनीत कहलाता है—

उद्धत न हो—नम्र हो, चपल न हो—स्थिर हो, मायावी न हो—सरल हो, कुतूहली न हो—गभीर हो, किसीका तिरस्कार

(८९)

आणाऽनिद्देसकरे, गुरुणमणुववायकारए ।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चइ ॥११॥

(९०-९२)

अभिक्खणं कोही हवइ, पबन्धं च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥१२॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पइ ।
सुप्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥१३॥
पइण्णवादी दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चइ ॥१४॥

(९३)

जस्सन्तिए धम्मपयाइं सिक्खे,
तस्सन्तिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ,
काय-ग्गिरा भो ! मणसा य निच्चं ॥१५॥

(८९)

जो गुरु की आज्ञा का पालन नही करता, जो उनके पास नही रहता, जो उनसे शत्रुता का बर्ताव रखता है, जो विवेकशून्य है, उसे अविनीत कहते है।

(९०-९२)

जो वार-बार क्रोध करता है, जिसका क्रोध शीघ्र ही शान्त नही होता; जो मित्रता रखनेवालो का भी तिरस्कार करता है, जो शास्त्र पढकर गर्व करता है, जो दूसरो के दोषो को ही उखेडता रहता है, जो अपने मित्रो पर भी क्रुद्ध हो जाता है, जो अपने प्यारे-से-प्यारे मित्र की भी पीठ-पीछे बुराई करता है; जो मनमाना बोल उठता है—बकवादी है, जो स्नेही जनो से भी द्रोह रखता है, जो अहकारी है, जो लोभी है, जो इन्द्रियनिग्रही नही, जो सबको अप्रिय है, वह अविनीत कहलाता है।

(९३)

शिष्य का कर्त्तव्य है कि जिस गुरु से धर्म-प्रवचन सीखे, उसकी निरन्तर विनय-भक्ति करे। मस्तक पर अजलि चढाकर गुरु के प्रति सम्मान प्रदर्शित करे। जिस तरह भी हो सके उसी तरह मन से, वचन से और शरीर से हमेशा गुरु की सेवा करे।

(९४)

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणय न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फल व कीयस्स वहाय होइ ॥१६॥

(९५)

विवत्ती अविणीयस्स, सपत्ती विणीयस्स य ।
जस्सेय दुहओ नाय, सिक्ख से अभिगच्छइ ॥१७॥

(६४)

जो शिष्य अभिमान, क्रोध, मद या प्रमाद के कारण गुरु की विनय (भक्ति) नही करता, वह इससे अभूति अर्थात् पतन को प्राप्त होता है। जैसे बाँस का फल उसके ही नाश के लिए होता है, उसी प्रकार अविनीत का ज्ञानवल भी उसीका सर्वनाश करता है।

(६५)

'अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है, और विनीत को सम्पत्ति' —ये दो वाते जिसने जान ली है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

: १० :

चाउरंगिज्ज-सुत्तं

(९६)

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१॥

(९७)

समावन्नाण संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु ।
कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्सभिया पया ॥२॥

(९८)

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छइ ॥३॥

(९९)

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल-वुक्कसो ।
तओ कीड-पयंगो य, तओ कुन्थु-पिवीलिया ॥४॥

: १० :

चतुरङ्गीय-सूत्र

(६६)

संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ अङ्गों (जीवन-विकास के साधन) का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है—

मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ।

(१००)

एवमावट्टजोणीसु पाणिणो कम्मकिब्बिसा ।
न निव्विज्जन्ति ससारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥५॥

(१०१)

कम्मसगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया वहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥६॥

(१०२)

कम्माण तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययन्ति मणुस्सय ॥७॥

(१०३)

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
ज सोच्चा पडिवज्जन्ति, तव खन्तिमहिंसयं ॥८॥

(१०४)

आहच्च सवण लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेयाउयं मग्ग, वहवे परिभस्सई ॥९॥

(१००)

पापकर्म करनेवाले प्राणी इस भाँति हमेशा वदलती रहने-वाली योनियो मे वारवार पैदा होते रहते है; किंतु इस दु खपूर्ण संसार से कभी खिन्न नही होते जैसे दु ख पूर्ण राज्य से क्षत्रिय ।

(१०१)

जो प्राणी काम-वासनाओ से विमूढ है, वे भयंकर दु ख तथा वेदना भोगते हुए चिरकाल तक मनुष्येतर योनियो मे भटकते रहते है ।

(१०२)

ससार मे परिभ्रमण करते-करते जब कभी वहुत काल मे पाप-कर्मों का वेग क्षीण होता है और उसके फलस्वरूप अन्तरात्मा क्रमश. शुद्धि को प्राप्त होता है; तव कही मनुष्य-जन्म मिलता है ।

(१०३)

मनुष्य-शरीर पा लेने पर भी सद्धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसे सुनकर मनुष्य तप, क्षमा और अहिसा को स्वीकार करते है ।

(१०४)

सौभाग्य से यदि कभी धर्म का श्रवण प्राप्त भी हो जाता है, तो उसपर श्रद्धा का होना तो अत्यन्त दुर्लभ है । कारण कि वहुत-से लोग न्यायमार्ग को—सत्य-सिद्धात को सुनकर भी उससे दूर ही रहते है—उसपर विश्वास नही लाते ।

(१०५)

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं ।
बहवे रोयमाणा वि, नो [य]य णं पडिवज्जए ॥१०॥

(१०६)

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे ।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥११॥

(१०७)

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ते व पावए ॥१२॥

(१०८)

विगिंच कम्मणो हेउं, जसं संचिणु खन्तिए ।
सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥१३॥

(१०५)

सद्धर्म का श्रवण और उसपर श्रद्धा—दोनो प्राप्त कर लेने पर भी उनके अनुसार पुरुषार्थ करना, यह तो और भी कठिन है। क्योकि ससार मे बहुत-से लोग ऐसे है, जो सद्धर्म पर दृढ विश्वास रखते हुए भी उसे आचरण मे नही लाते।

(१०६)

परन्तु जो तपस्वी मनुष्यत्व को पाकर, सद्धर्म का श्रवण कर, उसपर श्रद्धा लाता है और तदनुसार पुरुषार्थ कर आस्रवरहित हो जाता है, वह अन्तरात्मा पर से कर्मरज को झटक देता है।

(१०७)

जो मनुष्य निष्कपट एव सरल होता है, उसीकी आत्मा शुद्ध होती है। और जिसकी आत्मा शुद्ध होती है, उसीके पास धर्म ठहर सकता है। घी से सीची हुई अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरल और शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण को प्राप्त होता है।

(१०८)

कर्मो के पैदा करनेवाले कारणो को ढूंढो—उनका छेद करो, और फिर क्षमा आदि के द्वारा अक्षय यश का सचय करो। ऐसा करनेवाला मनुष्य इस पार्थिव शरीर को छोडकर ऊर्ध्व-दिशा को प्राप्त करता है—अर्थात् उच्च और श्रेष्ठगति पाता है।

(१०६)

चउरंगं दुल्लहं मत्ता, संजमं पडिवज्जिया।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥१४॥

(१०६)

जो मनुष्य उक्त चार अगो को दुर्लभ जानकर सयम-मार्ग स्वीकार करता है, वह तप के द्वारा सब कर्मांशो का नाश कर सदा के लिए सिद्ध हो जाता है।

: ११ :

अप्पमाय-सुत्तं

(११०)

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते,
कं नु विहिंसा अजया गहिन्ति ॥१॥

(१११)

जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा,
समाययन्ति अमयं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥२॥

(११२)

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्थ ।
दीवप्पणट्ठे व अणतमोहे,
नेयाउय दट्ठुमदट्ठुमेव ॥३॥

: ११ :

अप्रमाद-सूत्र

(११०)

जीवन असस्कृत है—अर्थात् एक बार टूट जाने के बाद फिर नही जुडता; अत एक क्षण भी प्रमाद न करो।

'प्रमाद, हिसा और असयम मे अमूल्य यौवन-काल बिता देने के बाद जब वृद्धावस्था आयेगी, तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा —तब किसकी शरण लोगे ?' यह खूब सोच-विचार लो।

(१११)

जो मनुष्य अनेक पापकर्म कर, वैर-विरोध बढाकर, अमृत की तरह धन का सग्रह करते हैं, वे अन्त मे कर्मों के दृढ पाश मे बँधे हुए सारी धन-सम्पत्ति यही छोडकर नरक को प्राप्त होते हैं।

(११२)

प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक में ही अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक मे। फिर भी धन के असीम मोह से मूढ मनुष्य दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग नही दीख पड़ता, वैसे ही न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नही देख पाता है।

(११३)

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥४॥

(११४)

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ॥५॥

(११५)

सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पंडिए आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरेऽपमत्ते ॥६॥

(११६)

चरे पयाइं परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।

(११३)

जैसे चोर सेंध के द्वार पर पकड़ा जाकर अपने ही दुष्कर्म के कारण चीरा जाता है, वैसे ही पाप करनेवाला प्राणी भी इस लोक मे तथा परलोक मे—दोनो ही जगह—भयकर दु ख पाता है। क्योकि कृत कर्मो को भोगे विना कभी छुटकारा नही हो सकता।

(११४)

ससारी मनुष्य अपने प्रिय कुटुम्बियो के लिए बुरे-से-बुरे भी पाप-कर्म कर डालता है, पर जब उनके दुष्फल भोगने का समय आता है तब अकेला ही दु ख भोगता है, कोई भी भाई-बन्धु उसका दु ख बँटानेवाला—सहायता पहुँचानेवाला नही होता।

(११५)

आशुप्रज्ञ पडित पुरुष को मोहनिद्रा मे सोते रहनेवाले ससारी मनुष्यो के बीच रहकर भी सब ओर से जागरूक रहना चाहिए, किसीका विश्वास नही करना चाहिए। 'काल निर्दय है और शरीर निर्बल' यह जानकर भारड पक्षी की तरह हमेशा अप्रमत्त भाव से विचरना चाहिए।

लाभन्तरे जीवियं वूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥७॥

(११७)

छन्दनिरोहेण उवेइ मोक्खं,
आसे जहा सिक्खियवम्मधारी ।
पुव्वाइ वासाइं चरेऽप्पमत्ते,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥८॥

(११८)

स पुव्वमेव न लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासयवाइयाण ।
विसीयई सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥९॥

(११९)

खिप्प न सक्केइ विवेगमेउ,
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।

से-अधिक संयम-धर्म की साधना के लिए कर लेना चाहिए। बाद मे जब वह बिल्कुल ही अशक्त हो जाये, तब बिना किसी मोह-ममता के मिट्टी के ढेले के समान उसका त्याग कर देना चाहिए।

(११७)

जैसे शिक्षित (सधा हुआ) तथा कवचधारी घोडा युद्ध मे विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार विवेकी मुमुक्ष भी जीवन-सग्राम मे विजयी बनकर मोक्ष प्राप्त करता है। जो मुनि दीर्घकाल तक अप्रमत्तरूप से सयम-धर्म का आचरण करता है, वह शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष-पद पाता है।

(११८)

शाश्वतवादी लोग कल्पना बाँधा करते है कि 'सत्कर्म-साधना की अभी क्या जल्दी है, आगे कर लेगे?' परन्तु यो करते-करते भोग-विलास मे ही उनका जीवन समाप्त हो जाता है, और एक दिन मृत्यु सामने आ खडी होती है, शरीर नष्ट हो जाता है। अन्तिम समय मे कुछ भी नही बन पाता, उस समय तो मूर्ख मनुष्य के भाग्य मे केवल पछताना ही शेष रहता है।

(११९)

आत्म-विवेक कुछ झटपट प्राप्त नही किया जाता—इसके लिए तो भारी साधना की आवश्यकता है। महर्षि जनो को बहुत पहले से ही सयम-पथ पर दृढता के साथ खडे होकर, काम-भोगो का

समिच्च लोयं समया महेसी,
आयाणुरक्खी चरमप्पमत्ते ॥१०॥

(१२०)

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं,
अणेगरूवा समणं चरन्तं ।
फासा फुसन्ती असमंजसं च,
न तेसि भिक्खू मणसा पउस्से ॥११॥

(१२१)

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा,
तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं,
मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ॥१२॥

(१२२)

जे सखया तुच्छ परप्पवाई,
ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा ।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो,
कखे गुणे जाव सरीरभेए ॥१३॥

परित्याग कर, समतापूर्वक स्वार्थी ससार की वास्तविकता को समझ-कर, अपनी आत्मा की पापो से रक्षा करते हुए सर्वदा अप्रमादी रूप से विचरना चाहिए।

(१२०)

मोह-गुणो के साथ निरन्तर युद्ध करके विजय प्राप्त करने-वाले श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्शों का भी बहुत बार सामना करना पडता है। परन्तु भिक्षु उनपर तनिक भी अपने मन को क्षुब्ध न करे—शान्त भाव से अपने लक्ष्य की ओर ही अग्रसर होता रहे।

(१२१)

सयम-जीवन मे मन्दता पैदा करनेवाले काम-भोग बहुत ही लुभावने मालूम होते है। परतु सयमी पुरुष उनकी ओर अपने मन को कभी आकृष्ट न होने दे। आत्मशोधक साधक का कर्त्तव्य है कि वह क्रोध को दबाए, अहकार को दूर करे, माया का सेवन न करे, और लोभ को छोड दे।

(१२२)

जो मनुष्य सस्कारहीन है, तुच्छ है, दूसरो की निन्दा करने-वाले है, राग-द्वेष से युक्त है, वे सब अधर्माचरणवाले है—इस प्रकार विचारपूर्वक दुर्गुणो से घृणा करता हुआ मुमुक्षु शरीर-नाश पर्यन्त (जीवन-पर्यन्त) एकमात्र सद्गुणो की ही कामना करता रहे।

: ११-२ :

अप्पमाय-सुत्तं

(१२३)

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

(१२४)

कुसग्गे जह ओसविन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एव मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

(१२५)

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए वहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रय पुरेकडं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥३॥

(१२६)

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्व-पाणिण ।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समय गोयम ! मा पमायए ॥४॥

: ११-२ :

अप्रमाद-सूत्र

(१२३)

जैसे वृक्ष का पत्ता पतझड ऋतुकालिक रात्रि-समूह के बीत जाने के बाद पीला होकर गिर जाता है, वैसे ही मनुष्यो का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर सहसा नष्ट हो जाता है। इसलिए हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२४)

जैसे ओस की बूँद कुशा की नोक पर थोडी देरतक ही ठहरी रहती है, उसी तरह मनुष्यो का जीवन भी बहुत अल्प है—शीघ्र ही नाश हो जा नेवाला है। इसलिए हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२५)

अनेक प्रकार के विघ्नो से युक्त अत्यत अल्प आयुवाले इस मानव-जीवन मे पूर्व सचित कर्मो की धूल को पूरी तरह झटक दे। इसके लिए हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२६)

दीर्घकाल के बाद भी प्राणियो को मनुष्य-जन्म का मिलना बड़ा दुर्लभ है, क्योकि कृत कर्मो के विपाक अत्यन्त प्रगाढ होते है। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२७)

पुढविकायमइगश्रो, उक्कोस जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥५॥

(१२८)

श्राउकायमइगश्रो, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥

(१२९)

तेउकायमइगश्रो, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईय, समयं गोयम ! मा पमायए ॥७॥

(१३०)

वाउकायमइगश्रो, उक्कोसं जीवो उ सवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥८॥

(१३१)

वणस्सइकायमइगश्रो, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणन्तदुरन्तयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥९॥

(१३२)

बेइन्दियकायमइगश्रो, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥

(१२७)

यह जीव पृथिवी-काय मे गया और वहाँ उत्कृष्ट असख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२८)

यह जीव जल-काय मे गया और वहाँ उत्कृष्ट असख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२९)

यह जीव तेजस्काय मे गया और वहाँ उत्कृष्ट असख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३०)

यह जीव वायु-काय मे गया और वहाँ उत्कृष्ट असख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३१)

यह जीव वनस्पति-काय मे गया और वहाँ उत्कृष्ट अनन्त काल तक—जिसका बडी कठिनता से अन्त होता है—रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३२)

यह जीव द्वीन्द्रिय-काय मे गया और वहाँ उत्कृष्ट सख्येय काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३३)

तेइन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥

(१३४)

चउरिन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२॥

(१३५)

पंचिन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तट्ठभवग्गहणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३॥

(१३६)

एवं भवसंसारे संसरइ, सुहासुहेहिं कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१४॥

(१३७)

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आरियत्तं पुणरावि दुल्लभं ।
बहवे दसुया मिलक्खुया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१५॥

(१३३)

यह जीव त्रीन्द्रिय-काय मे गया और वहाँ उत्कृष्ट सख्यात काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३४)

यह जीव चतुरिन्द्रिय-काय मे गया और वहाँ उत्कृष्ट सख्यात काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३५)

यह जीव पचेन्द्रिय-काय मे गया और वहाँ उत्कृष्ट सात तथा आठ जन्मतक निरन्तर रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३६)

प्रमाद-बहुल जीव अपने शुभाशुभ कर्मो के कारण इस भाँति अनन्त बार भव-चक्र मे इधर से उधर घूमा करता है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३७)

मनुष्य-जन्म पा लिया तो क्या? आर्यत्व का मिलना बडा कठिन है। बहुत-से-जीव मनुष्यत्व पाकर भी दस्यु और म्लेच्छ जातियो मे जन्म लेते है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३८)

लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीणपंचिन्दिया हु दुल्लहा ।
विगलिन्दियया हु दीसई, समयं ! गोयम मा पमायए ॥१६॥

(१३९)

अहीणपंचेन्दियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा ।
कुतित्थिनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥

(१४०)

लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥

(१४१)

धम्मं पि हु सद्दहन्तया, दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥

(१४२)

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

(१३८)

आर्यत्व पाकर भी पॉचो इन्द्रियो को परिपूर्ण पाना वडा कठिन है। वहुत-से लोग आर्य-क्षेत्र मे जन्म लेकर भी विकल इन्द्रियो-वाले देखे जाते है। हे गोतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३९)

पॉचो इन्द्रियाँ परिपूर्ण पाकर भी उत्तम धर्म का श्रवण प्राप्त होना कठिन है। वहुत-से लोग पाखडी गुरुओ की सेवा किया करते है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४०)

उत्तम धर्म का श्रवण पाकर भी उसपर श्रद्धा का होना बडा कठिन है। वहुत-से लोग सव कुछ जान-बूझकर भी मिथ्यात्व की उपासना मे ही लगे रहते है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४१)

धर्म पर श्रद्धा लाकर भी शरीर से धर्म का आचरण करना वडा कठिन है। ससार मे वहुत-से धर्मश्रद्धालु मनुष्य भी काम-भोगो मे मूर्छित रहते है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४२)

तेरा शरीर दिन प्रति दिन जीर्ण होता जा रहा है, सिर के वाल पककर श्वेत होने लगे है, अधिक क्या—शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार का वल घटता जा रहा है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४३)

अरई गण्ड विसूइया, आयका विविहा फुसन्ति ते ।
विहडइ विद्धसइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२१॥

(१४४)

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुय सारइय व पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥

(१४५)

चिच्चाण धणं च भारियं, पव्वइओ हि सि अणगारियं ।
मा वन्त पुणो वि आविए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥

(१४६)

उवउज्झिय मित्तबन्धवं, विउल चेव धणोहसचयं ।
मा तं विइयं गवेसए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥

(१४३)

अरुचि, फोडा, विसूचिका (हैजा), आदि अनेक प्रकार के रोग शरीर मे बढते जा रहे है, इनके कारण तेरा शरीर बिल्कुल क्षीण तथा ध्वस्त हो रहा है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४४)

जैसे कमल शरत्काल के निर्मल जल को भी नही छूता—अलग अलिप्त रहता है, उसी प्रकार तू भी ससार से अपनी समस्त आसक्तियाँ दूर कर, सब प्रकार के स्नेह-बन्धनो से रहित हो जा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४५)

स्त्री और धन का परित्याग करके तू महान् अनागार पद को पा चुका है, इसलिए अब फिर इन वमन की हुई वस्तुओ का पान न कर। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४६)

विपुल धनराशि तथा मित्र-बान्धवो को एकबार स्वेच्छा-पूर्वक छोडकर, अब फिर दोबारा उनकी गवेषणा (पूछताछ) न कर। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४७)

अवले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५॥

(१४८)

तिण्णो सि अण्णव महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

(१४९)

बुद्धस्स निसम्म भासियं, सुकहियमट्ठपदोवसोहियं।
रागं दोसं च छिन्दिया, सिद्धिगइं गए गोयमे ॥२७॥

(१४७)

घुमावदार विषम मार्ग को छोडकर तू सीधे और साफ मार्ग पर चल। विषम मार्ग पर चलनेवाले निर्बल भार-वाहक की तरह वाद मे पछतानेवाला न वन। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४८)

तू विशाल ससार-समुद्र को तैर चुका है, अव भला किनारे आकर क्यो अटक रहा है ? उस पार पहुँचने के लिए जितनी भी हो सके शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४९)

भगवान् महावीर के इस भाँति अर्थयुक्त पदोवाले सुभापित वचनो को सुनकर श्री गौतम स्वामी राग तथा द्वेष का छेदन कर सिद्धि-गति को प्राप्त हो गये।

: १२ :

पमायट्टाण-सुत्तं

(१५०)

पमाय कम्ममाहंसु, अप्पमाय तहावरं।
तब्भावादेसओ वावि, बाल पंडियमेव वा ॥१॥

(१५१)

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंड बलागप्पभव जहा य।
एमेव मोहायय़ण खु तण्हा,
मोह च तण्हाययणं वयन्ति ॥२॥

(१५२)

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।
कम्म च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्ख च जाईमरणं वयन्ति ॥३॥

(१५३)

दुक्खं हय जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।

: १२ :

प्रमाद-स्थान-सूत्र

(१५०)

प्रमाद को कर्म कहा है और अप्रमाद को अकर्म—अर्थात् जो प्रवृत्तियाँ प्रमादयुक्त हैं वे कर्म-बन्धन करनेवाली हैं, और जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद से रहित हैं वे कर्म-बन्धन नही करती। प्रमाद के होने और न होने से ही मनुष्य क्रमश मूर्ख और पडित कहलाता है।

(१५१)

जिस प्रकार बगुली अडे से पैदा होती है और अडा बगुली से पैदा होता है, उसी प्रकार मोह का उत्पत्ति-स्थान तृष्णा है और तृष्णा का उत्पत्ति-स्थान मोह है।

(१५२)

राग और द्वेष—दोनो कर्म के बीज है—अत कर्म का उत्पादक मोह ही माना गया है। कर्मसिद्धान्त के अनुभवी लोग कहते है कि ससार मे जन्म-मरण का मूल कर्म है, और जन्म-मरण—यही एकमात्र दु ख है।

(१५३)

जिसे मोह नही है उसका दु ख चला गया, जिसे तृष्णा नही उसका मोह चला गया, जिसे लोभ नही है, उसकी तृष्णा चली गई;

तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥४॥

(१५४)

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥५॥

(१५५)

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥६॥

(१५६)

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कुत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥७॥

जिसके पास लोभ करने-जैसा कुछ भी पदार्थ-संग्रह नही है, उसका लोभ चला गया।

(१५४)

दूध और दही आदि रसो का अधिक मात्रा मे सेवन नही करना चाहिए; क्योकि प्राय रस मनुष्यो मे मादकता पैदा करते हैं। मत्त मनुष्य की ओर काम-वासनाएँ वैसे ही दौड़ी आती हैं, जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष की ओर पक्षी।

(१५५)

जो मूर्ख मनुष्य सुन्दर रूप के प्रति तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल ही नष्ट हो जाता है। रागातुर व्यक्ति रूप-दर्शन की लालसा मे वैसे ही मृत्यु को प्राप्त होता है, जैसे दीये की ज्योति देखने की लालसा मे पतंग।

(१५६)

रूप मे आसक्त मनुष्य को कही से भी कभी किंचिन्मात्र भी सुख नही मिल सकता। खेद है कि जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य महान् कष्ट उठाता है, उसके उपभोग मे कुछ भी सुख न पाकर केवल क्लेश तथा दुःख ही पाता है।

(१५७)

एमेव रूवम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥८॥

(१५८)

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥९॥

(१५९)

एविन्दियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेन्ति किंचि ॥१०॥

(१६०)

न कामभोगा समयं उवेन्ति,
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥११॥

(१५७)

जो मनुष्य कुत्सित रूपो के प्रति द्वेष रखता है, वह भविष्य मे असीम दु ख-परपरा का भागी होता है। प्रदुष्टचित्त द्वारा ऐसे पापकर्म सचित किये जाते है, जो विपाक-काल मे भयंकर दु ख-रूप होते है।

(१५८)

रूप से विरक्त मनुष्य ही वास्तव मे शोक-रहित है। वह ससार मे रहते हुए भी दु ख-प्रवाह से वैसे ही अलिप्त रहता है, जैसे कमल का पत्ता जल से।

(१५९)

रागी मनुष्य के लिए ही उपर्युक्त इन्द्रियो तथा मन के विषय-भोग इस प्रकार दु ख के कारण होते है। परन्तु वे ही वीतरागी को किसी भी प्रकार से कभी तनिक भी दु ख नही पहुँचा सकते।

(१६०)

काम-भोग अपने-आप तो न किसी मनुष्य मे समभाव पैदा करते है और न किसी मे रागद्वेपरूप विकृति पैदा करते है। परन्तु मनुष्य स्वय ही उनके प्रति राग-द्वेप के नाना सकल्प वनाकर मोह से विकार-ग्रस्त हो जाता है।

(१६१)

अणाइकालप्पभवस्स एसो,
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो ।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता,
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥१२॥

(१६१)

अनादि काल से उत्पन्न होते रहनेवाले सभी प्रकार के सासारिक दु खो से छट जाने का यह मार्ग ज्ञानी पुरुषो ने बतलाया है। जो प्राणी उक्त मार्ग का अनुसरण करते है, वे क्रमश मोक्ष-धाम प्राप्त कर अत्यन्त सुखी होते हैं।

: १३ :

कसाय-सुत्तं

(१६२)

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचन्ति मूलाइ पुणब्भवस्स ॥१॥

(१६३)

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥२॥

(१६४)

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३॥

(१६५)

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥४॥

: १३ :

कषाय-सूत्र

(१६२)

अनिगृहीत क्रोध और मान, तथा प्रवर्द्धमान (बढते हुए) माया और लोभ—ये चारो ही कुत्सित कषाय पुनर्जन्मरूपी ससार-वृक्ष की जडो को सीचते है।

(१६३)

जो मनुष्य अपना हित चाहता है, वह पाप को बढानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार दोषो को सदा के लिए छोड दे।

(१६४)

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है, और लोभ सभी सद्गुणो का नाश कर देता है।

(१६६)

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥५॥

(१६७)

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥६॥

(१६८)

अहे वयन्ति कोहेण, माणेणं अहमा गई।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥७॥

(१६९)

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥८॥

(१७०)

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥९॥

(१६६)

अनेक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थो से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक मनुष्य को दे दिया जाये, तब भी वह सन्तुष्ट नही होगा। अहो! मनुष्य की यह तृष्णा बडी दुष्पूर है!

(१६७)

ज्यो-ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो-त्यो लोभ भी बढता जाता है। देखो न, पहले केवल दो मासे सुवर्ण की आवश्यकता थी, पर बाद मे वह करोड़ो से भी पूरी न हो सकी।

(१६८)

क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है, अभिमान से अधम गति को पहुँचता है, माया से सद्गति का नाश होता है, और लोभ से इस लोक तथा परलोक मे महान् भय है।

(१६९)

चाँदी और सोने के कैलास के समान विशाल असख्य पर्वत भी यदि पास मे हो, तो भी लोभी मनुष्य की तृप्ति के लिए वे कुछ भी नही। कारण कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है।

(१७०)

चावल और जौ आदि धान्यो तथा सुवर्ण और पशुओ से परिपूर्ण यह समस्त पृथिवी भी लोभी मनुष्य को तृप्त कर सकने मे असमर्थ है—यह जानकर संयम का ही आचरण करना चाहिए।

(१७१)

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणि वन्ता अरहा महेसी,
न कुव्वई पावं न कारवेई ॥१०॥

(१७१)

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार अन्तरात्मा के भयंकर दोष हैं। इनका पूर्ण रूप से परित्याग करनेवाले अर्हन्त महर्षि न स्वयं पाप करते हैं, और न दूसरों से करवाते हैं।

: १४ :

काम-सुत्तं

(१७२)

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥१॥

(१७३)

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥२॥

(१७४)

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥३॥

(१७५)

जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुंदरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥४॥

: १४ :

काम-सूत्र

(१७२)

काम-भोग शल्यरूप है, विषरूप है, और विषधर सर्प के समान है। काम-भोगो की लालसा रखनेवाले प्राणी उन्हे प्राप्त किये विना ही अतृप्त दशा मे एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते है।

(१७३)

गीत सब विलापरूप है, नाट्य सब विडम्बनारूप है, आभरण सब भाररूप है। अधिक क्या, ससार के जो भी काम-भोग है, सब-के-सब दु खावह है।

(१७४)

काम-भोग क्षणमात्र सुख देनेवाले है और चिरकाल तक दु ख देनेवाले है। उनमे सुख बहुत थोडा है, अत्यधिक दु ख-ही-दु ख है। मोक्ष-सुख के वे भयंकर शत्रु है, अनर्थों की खान है।

(१७५)

जैसे किंपाक फलो का परिणाम अच्छा नही होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगो का परिणाम भी अच्छा नही होता।

(१७६)

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुंजमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एसोवमा कामगुणा विवागे ॥५॥

(१७७)

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥६॥

(१७८)

चीराजिणं नगिणिणं, जड़ी संघाडि मुडिण।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागय ॥७॥

(१७९)

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा काय वक्केणं, सव्वे ते दुक्खसभवा ॥८॥

(१८०)

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।

(१७६)

जैसे किपाक फल रूप-रग और रस की दृष्टि से शुरू मे खाते समय तो बडे अच्छे मालूम होते है, पर बाद मे जीवन के नाशक है, वैसे ही कामभोग भी शुरू मे तो बडे मनोहर लगते है, पर विपाक-काल मे सर्वनाश कर देते है।

(१७७)

जो मनुष्य भोगी है—भोगासक्त है, वही कर्म-मल से लिप्त होता है; अभोगी लिप्त नही होता। भोगी ससार मे परिभ्रमण किया करता है, और अभोगी ससार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

(१७८)

मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, सघाटिका (बौद्ध भिक्षुओ का सा उत्त-रीय वस्त्र), और मुण्डन आदि कोई भी धर्मचिह्न दुःशील भिक्षु की रक्षा नही कर सकते।

(१७९)

जो अविवेकी मनुष्य मन, वचन और काया से शरीर, वर्ण तथा रूप मे आसक्त रहते है, वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करते है।

(१८०)

काल बडी द्रुति गति से चला जा रहा है, जीवन की एक-एक करके सभी रात्रियाँ बीतती जा रही है, फल-स्वरूप काम-भोग चिरस्थायी

चिच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥९॥

(१८१)

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणिअट्टेज्ज भोगेसु, आउ परिमिअमप्पणो ॥१०॥

(१८२)

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा ॥११॥

(१८३)

संबुज्झह ! किं न बुज्झह ?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमन्ति राइओ,
नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥१२॥

(१८४)

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया व ॥१३॥

नही है। भोग-विलास के साधनो से रहित पुरुष को लोग वैसे ही छोड देते है, जैसे क्षीणफल वृक्ष को पक्षी।

(१८१)

मानव-जीवन नश्वर है, उसमे भी अपनी आयु तो बहुत ही परिमित है, एकमात्र मोक्ष-मार्ग ही अविचल है, यह जानकर काम-भोगो से निवृत्त हो जाना चाहिए।

(१८२)

हे पुरुष! मनुष्यो का जीवन अत्यन्त अल्प है—क्षणभगुर है, अत शीघ्र ही पापकर्म से निवृत्त हो जा। ससार मे आसक्त तथा काम-भोगो से मूर्च्छित असयमी मनुष्य बार-बार मोह को प्राप्त होते रहते है।

(१८३)

समझो, इतना क्यो नही समझते? परलोक मे सम्यक् बोधि का प्राप्त होना बडा कठिन है। बीती हुई रात्रियाँ कभी लौटकर नही आती। मनुष्य-जीवन का दोबारा पाना आसान नही।

(१८४)

काम-भोग बडी मुश्किल से छूटते है, अधीर पुरुष तो इन्हे सहसा छोड़ ही नही सकते। परन्तु जो महाव्रतो-जैसे सुन्दर व्रतो के पालन करनेवाले साधुपुरुष है, वे ही दुस्तर भोग-समुद्र को तैरकर पार होते है, जैसे—व्यापारी वणिक समुद्र को।

: १५ :

असरण-सुत्तं

(१८५)

वित्तं पसवो न नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नई ।
एए मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥१॥

(१८६)

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तुणो ॥२॥

(१८७)

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥३॥

(१८८)

दाराणि सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुवयन्ति य ॥४॥

: १५ :

अशरण-सूत्र

(१८५)

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालो को अपना शरण मानता है और समझता है कि—'ये मेरे है' और 'मै उनका हूँ'। परन्तु इनमे से कोई भी आपत्तिकाल मे त्राण तथा शरण का देनेवाला नही।

(१८६)

जन्म का दु ख है, जरा (बुढापा) का दु ख है, रोग और मरण का दु ख है। अहो ! ससार दु खरूप ही है ! यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक प्राणी जब देखो तब क्लेश ही पाता रहता है।

(१८७)

यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न हुआ है, दु ख और क्लेशो का धाम है। जीवात्मा का इसमे कुछ ही क्षणो के लिए निवास है, आखिर एक दिन तो अचानक छोडकर चले ही जाना है।

(१८८)

स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन सब कोई जीते जी के ही साथी है, मरने पर कोई भी पीछे नही आता।

(१८९)

पढे हुए वेद बचा नही सकते, जिमाये हुए ब्राह्मण अन्धकार से अन्धकार मे ही ले जाते है, तथा स्त्री और पुत्र भी रक्षा नही कर सकते, तो ऐसी दशा मे कौन विवेकी पुरुष इन्हे स्वीकार करेगा ?

(१९०)

द्विपद (दास, दासी आदि मनुष्य), चतुष्पद, क्षेत्र, गृह और धन-धान्य सब कुछ छोडकर विवशता की दशा मे प्राणी अपने कृत कर्मो के साथ अच्छे या बुरे परभव मे चला जाता है।

(१९१)

जिस तरह सिह हिरण को पकडकर ले जाता है, उसी तरह अतसमय मृत्यु भी मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय माता, पिता, भाई आदि कोई भी उसके दु ख मे भागीदार नही होते—पर-लोक मे उसके साथ नही जाते।

(१९२)

संसार मे जितने भी प्राणी है, वे सब अपने कृत कर्मों के कारण ही दुखी होते है। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म है, उसका फल भोगे बिना कभी छुटकारा नही हो सकता।

(१९३)

असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा य चइयव्वे, फेणबुब्बुयसन्निभे॥९॥

(१९४)

माणुसत्ते असारम्मि, वाहि-रोगाण आलए।
जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामहं॥१०॥

(१९५)

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं।
जत्थ तं मुज्झसि राय! पेच्चत्थं नावबुज्झसि॥११॥

(१९६)

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं॥१२॥

(१९३)

यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षणभगुर है, पहले या पीछे एक दिन इसे छोडना ही है, अत इसके प्रति मुझे तनिक भी प्रीति (आसक्ति) नही है।

(१९४)

मानव-शरीर असार है, आधि-व्याधियो का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है; अत मैं इसकी ओर से क्षणभर भी प्रसन्न नही होता हूँ।

(१९५)

मनुष्य का जीवन और रूप-सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चचल है ! आश्चर्य है, हे राजन्, तुम इसपर मुग्ध हो रहे हो ! क्यो नही परलोक की ओर का खयाल करते हो ?

(१९६)

पापी जीव के दुख को न जातिवाले बँटा सकते है, न मित्र-वर्ग, न पुत्र, और न भाई-बन्धु। जब कभी दुख आकर पडता है, तब वह स्वय अकेला ही उसे भोगता है। क्योकि कर्म अपने कर्त्ता के ही पीछे लगते है, अन्य किसीके नही।

: १६ :

बाल-सुत्तं

(१९७)

भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥१॥

(१९८)

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥२॥

(१९९)

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥३॥

(२००)

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ ।
कामभोगाणुराएण, केसं संपडिवज्जइ ॥४॥

: १६ :

बाल-सूत्र

(१९७)

जो बाल—मूर्ख मनुष्य काम-भोगो के मोहक दोषो मे आसक्त है, हित तथा निश्रेयस के विचार से शून्य है, वे मन्दबुद्धि मूढ ससार मे वैसे ही फँस जाते है, जैसे मक्खी श्लेष्म (कफ) मे।

(१९८)

जो मनुष्य काम-भोगो मे आसक्त होते है, वे बुरे-से-बुरे पाप-कर्म कर डालते है। ऐसे लोगो की मान्यता होती है कि—"परलोक हमने देखा नही है, और यह विद्यमान काम-भोगो का आनन्द तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है।"

(१९९)

"वर्तमान काल के काम-भोग हाथ मे आये हुए है—पूर्णतया स्वाधीन है। भविष्यकाल मे परलोक के सुखो का क्या ठीक—मिले या न मिले ? और यह भी कौन जानता है कि, परलोक है भी या नही ?"

(२००)

"मै तो सामान्य लोगो के साथ रहूँगा—अर्थात् जैसी उनकी दशा होगी, वैसी मेरी भी हो जायेगी"—मूर्ख मनुष्य इस प्रकार धृष्टता-भरी बाते किया करते है और काम-भोगो की आसक्ति के कारण अन्त मे महान् क्लेश पाते है।

(२०१)

तओ से दण्डं समारभई, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयग्गामं विहिंसई ॥५॥

(२०२)

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥६॥

(२०३)

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं ॥७॥

(२०४)

तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पई ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेही अप्पणो ॥८॥

(२०५)

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइं कम्माइं करेन्ति रुद्दा ।
ते घोररूवे तमसिन्धयारे,
तिव्वाभितावे नरगे पडन्ति ॥९॥

(२०१)

मूर्ख मनुष्य विषयासक्त होते ही त्रस तथा स्थावर जीवो को सताना शुरु कर देता है, और अन्ततक मतलब-बेमतलब प्राणिसमूह की हिंसा करता ही रहता है।

(२०२)

मूर्ख मनुष्य हिंसक, असत्यभाषी, मायावी, चुगलखोर और धूर्त होता है। वह मास तथा मद्य के खाने-पीने मे ही अपना श्रेय समझता है।

(२०३)

जो मनुष्य शरीर तथा वचन के बल पर मदान्ध है, धन तथा स्त्री जन मे आसक्त है, वह राग और द्वेष दोनो के द्वारा वैसे ही कर्म-मल का सचय करता है, जैसे अलसिया मिट्टी का।

(२०४)

पाप-कर्मो के फलस्वरूप जब मनुष्य अन्तिम समय मे असाध्य रोगो से पीडित होता है, तब वह खिन्नचित्त होकर अन्दर-ही अन्दर पछताता है, और अपने पूर्वकृत पाप-कर्मो को याद कर-कर परलोक की बिभीषिका से काँप उठता है।

(२०५)

जो मूर्ख मनुष्य अपने तुच्छ जीवन के लिए निर्दय होकर पाप-कर्म करते है, वे महाभयकर प्रगाढ अन्धकाराच्छन्न एव तीव्र ताप-वाले तमिस्र नरक मे जाकर पडते है।

(२०६)

जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए वाले, आयइं नावबुज्झई ॥१०॥

(२०७)

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणन्ते वि, नाऽऽराहेइ संवरं ॥११॥

(२०८)

जे केइ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
भोच्चा पिच्चा सुहं सुवइ, पावसमणि त्ति वुच्चइ ॥१२॥

(२०९)

वेराइं कुव्वइ वेरी, तओ वेरेहिं रज्जइ ।
पावोवगा य आरम्भा, दुक्खफासा य अन्तसो ॥१३॥

(२१०)

मासे मासे तु जो वाले, कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥१४॥

(२०६)

अनार्य मनुष्य काम-भोगो के लिए जब धर्म को छोडता है, तब वह भोग-विलास मे मूर्च्छित रहनेवाला मूर्ख अपने भयकर भविष्य को नही जानता ।

(२०७)

जिस तरह हमेशा भयभ्रान्त रहनेवाला चोर अपने ही दुष्कर्मो के कारण दु ख उठाता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य भी अपने दुराचरणो के कारण दु ख पाता है, और वह अतकाल मे भी सवर धर्म की आराधना नही कर सकता ।

(२०८)

जो भिक्षु प्रव्रज्या लेकर भी अत्यन्त निद्राशील हो जाता है, खा-पीकर मजे से सो जाया करता है, वह 'पाप-श्रमण' कहलाता है ।

(२०९)

वैर रखनेवाला मनुष्य हमेशा वैर ही किया करता है, वह वैर मे ही आनन्द पाता है। हिसाकर्म पाप को उत्पन्न करनेवाले है, अन्त मे दु ख पहुँचानेवाले है ।

(२१०)

यदि अज्ञानी मनुष्य महीने-महीनेभर का घोर तप करे और पारण के दिन केवल कुशा की नोक से भोजन करे, तो भी वह सत्पुरुषो के बताये धर्म का आचरण करनेवाले मनुष्य के सोलहवे हिस्से को भी नही पहुँच सकता ।

(२११)

इह जीविय अनियमित्ता, पब्भट्ठा समाहि-जोगेहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काये ॥१५॥

(२१२)

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥१६॥

(२१३)

बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे ।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥१७॥

(२१४)

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जइ ॥१८॥

(२१५)

धीरस्स पस्स धीरत्तं, सच्चधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥१९॥

(२११)

जो मनुष्य अपने जीवन को अनियन्त्रित (उच्छृङ्खल) रखने के कारण यहाँ समाधि-योग से भ्रष्ट हो जाते है, वे काम-भोगो में आसक्त होकर अन्त मे असुरयोनि मे उत्पन्न होते है।

(२१२)

ससार मे जितने भी अविद्वान् (मूर्ख) पुरुष है, वे सब दुःख भोगनेवाले है। मूढ प्राणी अनन्त ससार मे बार-बार लुप्त होते रहते है—जन्मते और मरते रहते है।

(२१३)

मूर्ख जीवो का अकाम मरण ससार मे बार-बार हुआ करता है; परन्तु पंडित पुरुषो का सकाम मरण केवल एक बार ही होता है—वे पुनर्जन्म नही पाते।

(२१४)

मूर्ख मनुष्य की मूर्खता तो देखो, जो धर्म को छोडकर, अधर्म को स्वीकार कर अधर्मिष्ठ हो जाता है, और अन्त मे नरक-गति को प्राप्त होता है।

(२१५)

सत्य-धर्म के अनुगामी धीर पुरुष की धीरता देखो, जो अधर्म का परित्याग कर धर्मिष्ठ हो जाता है, और अन्त मे देवलोक मे उत्पन्न होता है।

(२१६)

तुलियाण बालभावं, अबालं चेव पंडिए ।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवई मुणी ॥२०॥

(२१६)

विद्वान्, मुनि, वाल-भाव और अवाल-भाव का इस प्रकार तुलनात्मक विचार कर वाल-भाव को छोड दे, और अवाल-भाव को ही स्वीकार करे।

: १७ :

पंडिय-सुत्तं

(२१७)

समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥१॥

(२१८)

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई ॥२॥

(२१९)

वत्थगन्धमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चई ॥३॥

(२२०)

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते अत्तओ पासइ सव्वलोए।
उव्वेहई लोगमिणं महन्तं,
बुद्धो पमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥४॥

: १७ :

पण्डित-सूत्र

(२१७)

पण्डित पुरुष को चाहिए कि वह ससार-भ्रमण के कारणरूप दुष्कर्म-पाशो का भली भाँति विचार कर अपने-आप स्वतन्त्ररूप से सत्य की खोज करे, और सब जीवो पर मैत्रीभाव रखे।

(२१८)

जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगो को पाकर भी पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन भोगो का परित्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है।

(२१९)

जो मनुष्य किसी परतत्रता के कारण वस्त्र, गन्ध, अलकार, स्त्री और शयन आदि का उपभोग नही कर पाता, वह सच्चा त्यागी नही कहलाता।

(२२०)

जो बुद्धिमान मनुष्य मोहनिद्रा मे सोते रहनेवाले मनुष्यो के बीच रहकर ससार के छोटे-बडे सभी प्राणियो को अपनी आत्मा के समान देखे, इस महान् विश्व को अशाश्वत जाने, सर्वदा अप्रमत्त भाव से सयमाचरण मे रत रहे वही मोक्षगति का सच्चा अधिकारी है।

(२२१)

जे ममाइअमइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं ।
से हु दिट्ठभए मुणी, जस्स नत्थि ममाइअं ॥५॥

(२२२)

जहा कुम्मे सअंगाइ, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥६॥

(२२३)

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।
तस्स वि संजमो सेयो अदिन्तस्स वि किंचण ॥७॥

(२२४)

नाणस्स सव्वस्स पगासणाय,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥८॥

(२२५)

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,
विवज्जणा वालजणस्स दूरा ।
सज्झाय एगन्तनिसेवणा य,
सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ॥९॥

(२२१)

जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वह ममत्व का परित्याग करता है। वास्तव मे वही ससार से सच्चा भय खानेवाला मुनि है, जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व-भाव नही है।

(२२२)

जैसे कछुआ आपत्ति से बचने के लिए अपने अगो को अपने शरीर मे सिकोड लेता है, उसी प्रकार पडितजन भी विषयो की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियो को आध्यात्मिक ज्ञान से सिकोडकर रखे।

(२२३)

जो मनुष्य प्रतिमास लाखो गाये दान मे देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी न देनेवाले का सयमाचरण श्रेष्ठ है।

(२२४)

सब प्रकार के ज्ञान को निर्मल करने से, अज्ञान और मोह के त्यागने से, तथा राग और द्वेष का क्षय करने से एकान्त सुखस्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

(२२५)

सद्‌गुरु तथा अनुभवी वृद्धो की सेवा करना, मूर्खों के ससर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रो का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना, और चित्त मे धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निश्रेयस का मार्ग है।

(२२६)

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥१०॥

(२२७)

न वा लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणश्रो समं वा ।
एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥११॥

(२२८)

जाइं च वुड्ढिं च इहऽज्ज पास,
भूएहिं सायं पडिलेह जाणे ।
तम्हाऽइविज्जो परमं ति नच्चा,
सम्मत्तदंसी न करेइ पावं ॥१२॥

(२२९)

न कम्मुणा कम्म खवेन्ति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेन्ति धीरा ।
मेहाविणो लोभभया वईया,
संतोसिणो न पकरेन्ति पावं ॥१३॥

(२२६)

समाधि की इच्छा रखनेवाला तपस्वी श्रमण परिमित तथा शुद्ध आहार ग्रहण करे, निपुण बुद्धिवाले तत्त्वज्ञानी साथी की खोज करे, और ध्यान करनेयोग्य एकान्त स्थान मे निवास करे।

(२२७)

यदि अपने से गुणो मे अधिक या समान गुणवाला साथी न मिले, तो पापकर्मो का परित्याग कर तथा काम-भोगो मे सर्वथा अनासक्त रहकर अकेला ही विचरे। परन्तु दुराचारी का कभी भूलकर भी सग न करे।

(२२८)

ससार मे जन्म-मरण के महान् दु खो को देखकर और यह अच्छी तरह जानकर कि—'सब जीव सुख की इच्छा रखनेवाले है' अहिसा को मोक्ष का मार्ग समझकर सम्यक्त्वधारी विद्वान् कभी भी पाप-कर्म नही करते।

(२२९)

मूर्ख साधक कितना ही क्यो न प्रयत्न करे, किन्तु पाप-कर्मो से पाप-कर्मो को कदापि नष्ट नही कर सकते। बुद्धिमान् साधक वे है, जो पाप-कर्मो के परित्याग से पाप-कर्मो को नष्ट करते है। अतएव लोभ और भय से रहित सर्वदा सन्तुष्ट रहनेवाले मेधावी पुरुष किसी भी प्रकार का पापकर्म नही करते।

: १८ :

अप्प-सुत्तं

(२३०)

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा घेणू, अप्पा मे नन्दनं वण ॥१॥

(२३१)

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥२॥

(२३२)

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥३॥

(२३३)

वर मे अप्पा दन्तो, सजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहिं दम्मन्तो, वन्धणेहिं वहेहि य ॥४॥

: १८ :

आत्म-सूत्र

(२३०)

अपनी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट शाल्मली वृक्ष है। और अपनी आत्मा ही स्वर्ग की कामदुघा धेनु तथा नन्दन-वन है।

(२३१)

आत्मा ही अपने दु खो और सुखो का कर्त्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना मित्र है, और बुरे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना शत्रु है।

(२३२)

अपने-आपको ही दमन करना चाहिए। वास्तव मे अपने-आपको दमन करना ही कठिन है। अपने-आपको दमन करनेवाला इस लोक मे तथा परलोक मे सुखी होता है।

(२३३)

दूसरे लोग मेरा बध वन्धनादि से दमन करे, इसकी अपेक्षा तो मैं सयम और तप के द्वारा अपने-आप ही अपना (आत्मा का) दमन करूँ, यह अच्छा है।

(२३४)

जो सहस्सं सहस्साण, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥५॥

(२३५)

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥६॥

(२३६)

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥७॥

(२३७)

न तं अरी कंठ-छेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥८॥

(२३८)

जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।

(२३४)

जो वीर दुर्जय सग्राम मे लाखो योद्धाओ को जीतता है, यदि वह एकमात्र अपनी आत्मा को जीत ले, तो यह उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय है।

(२३५)

अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए, बाहरी स्थूल शत्रुओ के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतनेवाला ही वास्तव मे पूर्ण सुखी होता है।

(२३६)

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सबसे अधिक दुर्जय अपनी आत्मा को जीतना चाहिए। एक आत्मा के जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।

(२३७)

सिर काटनेवाला शत्रु भी उतना अपकार नही करता, जितना कि दुराचरण मे लगी हुई अपनी आत्मा करती है। दयाशून्य दुराचारी को अपने दुराचरणो का पहले ध्यान नही आता; परन्तु जब वह मृत्यु के मुख मे पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणो को याद कर-कर पछताता है।

(२३८)

जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढनिश्चयी हो कि 'मैं शरीर छोड़ सकता हूँ, परन्तु अपना धर्म-शासन नही छोड़ सकता,'

त तारिसं नो पयलेन्ति इन्दिया,
उवेन्ति वाया व सुदंसणं गिरिं ॥९॥

(२३९)

अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुक्खाण मुच्चइ ॥१०॥

(२४०)

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥११॥

(२४१)

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं,
सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से ॥१२॥

उसे इन्द्रियाँ कभी विचलित नही कर सकती, जैसे—भीषण बवडर सुमेरु पर्वत को ।

(२३९)

समस्त इन्द्रियो को खूब अच्छी तरह समाहित करते हुए पापो से अपनी आत्मा की निरन्तर रक्षा करते रहना चाहिए । पापो से अरक्षित आत्मा ससार मे भटका करती है, और सुरक्षित आत्मा ससार के सब दु खो से मुक्त हो जाती है ।

(२४०)

शरीर को नाव कहा है, जीव को नाविक कहा जाता है, और ससार को समुद्र बतलाया है । इसी ससार-समुद्र को महर्षिजन पार करते है ।

(२४१)

जो प्रव्रजित होकर प्रमाद के कारण पाँच महाव्रतो का अच्छी तरह पालन नही करता, अपने-आपको निग्रह मे नही रखता, काम-भोगो के रस मे आसक्त हो जाता है, वह जन्म-मरण के वन्धन को जड से नही काट सकता ।

: १९ :

लोगतत्त-सुत्तं

(२४२)

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।।१।।

(२४३)

गइलक्खणो धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ।।२।।

(२४४)

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ।।३।।

(२४५)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्त च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ।।४।।

(२४६)

सद्दऽवयार-उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इ वा।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ।।५।।

: १९ :

लोकतत्त्व-सूत्र

(२४२)

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छ द्रव्य है। केवलदर्शन के धर्त्ता जिन भगवानो ने इन सबको लोक कहा है।

(२४३)

धर्मद्रव्य का लक्षण गति है, अधर्मद्रव्य का लक्षण स्थिति है, सब पदार्थों को अवकाश देना—आकाश का लक्षण है।

(२४४)

काल का लक्षण वर्तना है, और उपयोग जीव का लक्षण है। जीवात्मा ज्ञान से, दर्शन से, सुख से, तथा दुख से जाना-पहचाना जाता है।

(२४५)

अतएव ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण है।

(२४६)

शब्द, अन्धकार, उजेला, प्रभा, छाया, आतप (धूप), वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये सब पुद्गल के लक्षण है।

(२४७)

जीवाऽजीवा य बन्धो य पुण्ण पावाऽऽसवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥६॥

(२४८)

तहियाण तु भावाण, सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥७॥

(२४९)

नाणेण जाणइ भावे, दसणेणं य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥८॥

(२५०)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्त च तवो तहा ।
एय मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सुग्गइं ॥९॥

(२५१)

तत्थ पचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहिय ।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवल ॥१०॥

(२५२-२५३)

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्म तहेव य ॥११॥
नामकम्मं च गोत्तं च, अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥१२॥

(२४७)

जीव, अजीव, वन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नव सत्य-तत्त्व है ।

(२४८)

जीवादिक सत्य पदार्थों के अस्तित्व के विषय मे सद्गुरु के उपदेश से, अथवा स्वय ही अपने भाव से श्रद्धान करना, सम्यक्त्व कहा गया है ।

(२४६)

मुमुक्ष आत्मा ज्ञान से जीवादिक पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र्य से भोग-वासनाओ का निग्रह करता है, और तप से कर्ममलरहित होकर पूर्णतया शुद्ध हो जाता है ।

(२५०)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप—इस चतुष्टय अध्यात्ममार्ग को प्राप्त होकर मुमुक्ष जीव मोक्षरूप सद्गति को पाते है ।

(२५१)

मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल—इस भाँति ज्ञान पाँच प्रकार का है ।

(२५२-२५३)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इस प्रकार मक्षेप मे ये आठ कम वतलाये है ।

(२५४)

सो तवो दुविहो वुत्तो, वाहिरब्भन्तरो तहा ।
वाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥१३॥

(२५५)

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य, वज्झो तवो होइ ॥१४॥

(२५६)

पायच्छित्त विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो ॥१५॥

(२५७)

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा, नामाइं तु जहक्कम ॥१६॥

(२५८)

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जइ ॥१७॥

(२५९)

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जइ ॥१८॥

(२५४)

तप दो प्रकार का बतलाया है—बाह्य और अभ्यतर। बाह्य तप छ प्रकार का कहा है, इसी प्रकार अभ्यन्तर तप भी छ ही प्रकार का है।

(२५५)

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, काय-क्लेश और सलेखना—ये बाह्य तप है।

(२५६)

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये अभ्यन्तर तप है।

(२५७)

कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, और शुक्ल—ये लेश्याओ के क्रमश छ नाम है।

(२५८)

कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन अधर्म-लेश्याएँ है। इन तीनो से युक्त जीव दुर्गति मे उत्पन्न होता है।

(२५९)

तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म-लेश्याएँ है। इन तीनो से युक्त जीव सद्गति मे उत्पन्न होता है।

(२६०)

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥१९॥

(२६१)

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥२०॥

(२६२)

एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥२१॥

(२६३)

एसा पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥२२॥

(२६०)

पाँच समिति और तीन गुप्ति—इस प्रकार आठ प्रवचन-माताएँ कहलाती हैं।

(२६१)

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप, और उच्चार—ये पाँच समितियाँ हैं। तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ हैं। इस प्रकार दोनो मिलकर आठ प्रवचन-माताएँ हैं।

(२६२)

पाँच समितियाँ चारित्र्य की दया आदि प्रवृत्तियो मे काम आती हैं, और तीन गुप्तियाँ सब प्रकार के अशुभ व्यापारो से निवृत्त होने मे सहायक होती हैं।

(२६३)

जो विद्वान् मुनि उक्त आठ प्रवचन-माताओ का अच्छी तरह आचरण करता है, वह शीघ्र ही अखिल ससार से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

: २० :

पुज्ज-सुत्तं

(२६४)

आयारमट्ठा विणयं पउंजे,
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो,
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥१॥

(२६५)

अन्नायउंछं चरइ विसुद्धं,
जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं ।
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा,
लद्धुं न विकत्थई स पुज्जो ॥२॥

(२६६)

संथारसेज्जासणभत्तपाणे,
अप्पिच्छया अइलाभे वि सन्ते ।
जो एवमप्पाणऽभितोसएज्जा,
संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥३॥

: २० :

पूज्य-सूत्र

(२६४)

जो आचार-प्राप्ति के लिए विनय का प्रयोग करता है, जो भक्तिपूर्वक गुरु-वचनो को सुन एवं स्वीकृत कर कहने के अनुसार कार्य को पूरा करता है, जो गुरु की कभी अशातना नही करता, वही पूज्य है ।

(२६५)

जो केवल सयम-यात्रा के निर्वाह के लिए अपरिचितभाव से दोप-रहित भिक्षावृत्ति करता है, जो आहार आदि न मिलने पर कभी खिन्न नही होता और मिल जाने पर कभी प्रसन्न नही होता, वही पूज्य है ।

(२६६)

जो सस्तारक, शय्या, आसन और भोजन-पान आदि का अधिक लाभ होने पर भी अपनी आवश्यकता के अनुसार थोड़ा ही ग्रहण करता है, सन्तोष की प्रधानता मे रत होकर अपने-आपको सदा सन्तुष्ट वनाये रखता है, वही पूज्य है ।

(२६७)

सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेण।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥४॥

(२६८)

समावयन्ता वयणाभिघाया,
कण्णं गया दुम्मणियं जणन्ति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइन्दिए जो सहइ स पुज्जो ॥५॥

(२६९)

अवण्णवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥६॥

(२७०)

अलोलुए अक्कुहए अमाई,
अपिसुणे या वि अदीणवित्ती।

(२६७)

ससार मे लोभी मनुष्य के द्वारा किसी विशेष आशा की पूर्ति के लिए लोह-कटक भी सहन कर लिये जाते है, परन्तु जो विना किसी आशा-तृष्णा के कानो मे तीर के समान चुभनेवाले दुर्वचनरूपी कटको को सहन करता है, वही पूज्य है।

(२६८)

विरोधियो की ओर से पडनेवाली दुर्वचन की चोटे कानो मे पहुँचकर वडी मर्मान्तिक पीडा पैदा करती है, परन्तु जो क्षमाशूर जितेन्द्रिय पुरुप उन चोटो को अपना धर्म जानकर समभाव से सहन कर लेता है, वही पूज्य हे।

(२६९)

जो परोक्ष मे किसीकी निन्दा नही करता, प्रत्यक्ष मे भी कलह-वर्द्धक अट-सट वाते नही वकता, दूसरो को पीडा पहुँचानेवाली एव निश्चयकारी भाषा भी कभी नही वोलता, वही पूज्य है।

(२७०)

जो रसलोलुप नही है, इन्द्रजाली (जादू-टोना करनेवाला) नही है, मायावी नही है, चुगलखोर नही है, दीन नही है, दूसरो से अपनी प्रशसा सुनने की इच्छा नही रखता, स्वयं भी अपने मुंह से

नो भावए नो वि य भावियप्पा,
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥७॥

(२७१)

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाहि साहू गुण मुञ्चऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥८॥

(२७२)

तहेव डहरं च महल्लगं वा,
इत्थी पुमं पव्वइय गिहिं वा ।
नो हीलए नो विय खिंसएज्जा,
थम्भं च कोहं च चए स पुज्जो ॥९॥

(२७३)

तेसिं गुरूणं गुणसायराणं,
सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं ।
चरे मुणी पचरए तिगुत्तो,
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥१०॥

अपनी प्रशसा नही करता, खेल तमाशा आदि देखने का भी शौकीन नही, वही पूज्य है।

(२७१)

गुणो से साधु होता है और अगुणो से असाधु, अत. हे मुमुक्षु! सद्गुणो को ग्रहण कर और दुर्गुणो को छोड। जो साधक अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर राग और द्वेष दोनो मे समभाव रखता है, वही पूज्य है।

(२७२)

जो बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, साधु, और गृहस्थ आदि किसीका भी अपमान तथा तिरस्कार नही करता, जो क्रोध और अभिमान का पूर्णरूप से परित्याग करता है, वही पूज्य है।

(२७३)

जो बुद्धिमान मुनि सद्गुण-सिन्धु गुरुजनो के सुभाषितो को सुनकर तदनुसार पाँच महाव्रतो मे रत होता है, तीन गुप्तियाँ धारण करता है, और चार कषायो से दूर रहता है, वही पूज्य है।

: २१ :

माहण-सुत्तं

(२७४)

जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयई।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥१॥

(२७५)

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमल-पावगं।
राग-दोस-भयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥२॥

(२७६)

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥३॥

(२७७)

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं ॥४॥

: २१ :

ब्राह्मण-सूत्र

(२७४)

जो आनेवाले स्नेही जनो मे आसक्ति नही रखता, जो जाता हुआ शोक नही करता, जो आर्य-वचनो म सदा आनन्द पाता है, उने हम ब्राह्मण कहते है ।

(२७५)

जो अग्नि मे डालकर शुद्ध किये हुए और कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, द्वेष तथा भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।

(२७६)

जो तपस्वी है, जो दुबला-पतला है, जो इन्द्रिय-निग्रही है, उग्र तप साधना के कारण जिसका रक्त और मांस भी सूख गया है, जो शुद्धव्रती है, जिसने निर्वाण (आत्मशान्ति) पा लिया है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।

(२७७)

जो स्थावर, जगम सभी प्राणियो को भलीभाँति जानकर, उनकी तीनो ही प्रकार[१] से कभी हिसा नही करता, उसे हम ब्राह्मण

---

[१] मन, वाणी और शरीर से; अथवा करने, कराने और अनुमोदन से ।

(२७८)

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं वूम माहणं ॥५॥

(२७९)

चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा वहुं ।
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं वूम माहणं ॥६॥

(२८०)

दिव्व-माणुस-तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा काय-वक्केणं, तं वयं वूम माहणं ॥७॥

(२८१)

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं वूम माहणं ॥८॥

(२८२)

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं वूम माहणं ॥९॥

कहते हैं।

(२७८)

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ से अथवा भय से—किसी भी मलिन सकल्प से असत्य नही बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

(२७९)

जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ—भले ही फिर वह थोडा हो या ज्यादा,—मालिक के सहर्ष दिये बिना चोरी से नही लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८०)

जो देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन का मन, वाणी और शरीर से कभी सेवन नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८१)

जिस प्रकार कमल जल मे उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नही होता, इसी प्रकार जो ससार मे रहकर भी काम-भोगो से सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८२)

जो अलोलुप है, जो अनासक्त-जीवी है, जो अनागार (बिना घरबार का) है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थो से अलिप्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८३)

जहित्ता पुव्व-संजोगं, नाइसंगे य बन्धवे।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥१०॥

(२८४)

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण ण तावसो ॥११॥

(२८५)

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥१२॥

(२८६)

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥१३॥

(२८७)

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था समुद्धत्तु, परमप्पाणमेव य ॥१४॥

(२८३)

जो स्त्री-पुत्र आदि के स्नेह पैदा करनेवाले पूर्व सम्बन्धो को, जाति-विरादरी के मेल-जोल को तथा बन्धु-जनो को एक बार त्याग देने के वाद फिर उनमे किसी प्रकार की आसक्ति नही रखता, दोबारा काम-भोगो मे नहीं फँसता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

(२८४)

सिर मूँडा लेनेमात्र से कोई श्रमण नही होता, 'ओम्' का जाप कर लेनेमात्र से कोई ब्राह्मण नही होता, निर्जन वन मे रहनेमात्र से कोई मुनि नही होता, और न कुशा के बने वस्त्र पहन लेनेमात्र से कोई तपस्वी ही हो सकता है।

(२८५)

समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है; और तप से तपस्वी वना जाता है।

(२८६)

मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है, और शूद्र भी अपने कृत कर्मों से ही होता है। (अर्थात् वर्ण-भेद जन्म से नही होता। जो जैसा अच्छा या बुरा कार्य करता है, वह वैसा ही ऊँचा नीचा हो जाता है।)

(२८७)

इस भाँति पवित्र गुणो से युक्त जो द्विजोत्तम (श्रेष्ठ वाह्मण) है, वास्तव मे वे ही अपना तथा दूसरो का उद्धार कर सकने मे समर्थ है।

: २२ :

भिक्खु-सुत्तं

(२८८)

रोइअ नायपुत्त-वयणे,
अप्पसमे मन्नेज्ज छ प्पि काए ।
पंच य फासे महव्वयाइं,
पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥१॥

(२८९)

चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी य हविज्ज बुद्धवयणे ।
अहणे निज्जायरूव-रयए,
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥२॥

(२९०)

सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तव-संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराण पावगं,
मण-वय-कायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥३॥

भिक्षु-सूत्र

(२८८)

जो ज्ञातपुत्र—भगवान् महावीर के प्रवचनो पर श्रद्धा रखकर छ काय के जीवो को अपनी आत्मा के समान मानता है, जो अहिसा आदि पाँच महाव्रतो का पूर्ण रूप से पालन करता है, जो पाँच आस्रवो का सवरण अर्थात् निरोध करता है, वही भिक्षु है।

(२८९)

जो सदा क्रोध, मान, माया और लोभ—चार कषायो का परित्याग करता है, जो ज्ञानी पुरुषो के वचनो पर दृढविश्वासी रहता है, जो चाँदी, सोना आदि किसी भी प्रकार का परिग्रह नही रखता, जो गृहस्थो के साथ कोई भी सासारिक स्नेह-सम्बन्ध नही जोडता, वही भिक्षु है।

(२९०)

जो सम्यग्दर्शी है, जो कर्त्तव्य-विमूढ नही है, जो ज्ञान, तप और सयम का दृढ श्रद्धालु है, जो मन, वचन और शरीर को पाप-पथ पर जाने से रोक रखता है, जो तप के द्वारा पूर्व-कृत पाप-कर्मो को नष्ट कर देता है, वही भिक्षु है।

(२९१)

न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा,
न य कुप्पे निहुइन्दिए पसन्ते ।
संजमधुवजोगजुत्ते,
उवसन्ते अविहेडए जे स भिक्खू ॥४॥

(२९२)

जो सहइ हु गामकंटए,
अक्कोस-पहार-तज्जणाओ य ।
भय-भेरव-सद्द-सप्पहासे,
समसुह-दुक्खसहे जे स भिक्खू ॥५॥

(२९३)

अभिभूय काएण परिसहाइं,
समुद्धरे जाइपहाउ अप्पय ।
विइत्तु जाई-मरण महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥६॥

(२९४)

हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजइन्दिए ।

(२९१)

जो कलहकारी वचन नही कहता, जो क्रोध नही करता, जिसकी इन्द्रियाँ अचचल है, जो प्रशान्त है, जो सयम मे ध्रुवयोगी (सर्वथा तल्लीन) रहता है, जो सकट आने पर व्याकुल नही होता, जो कभी योग्य कर्त्तव्य का अनादर नही करता, वही भिक्षु है।

(२९२)

जो कान मे काँटे के समान चुभनेवाले आक्रोश वचनो को, प्रहारो को, तथा अयोग्य उपालभो को शान्तिपूर्वक सह लेता है, जो भीषण अट्टहास और प्रचण्ड गर्जनावाले स्थानो मे भी निर्भय रहता है, जो सुख-दुःख दोनो को एकसमान समभावपूर्वक सहन करता है, वही भिक्षु है।

(२९३)

जो शरीर से परीषहो को धैर्य के साथ सहन कर ससार-गर्त से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभयकर जानकर सदा श्रमणोचित तपश्चरण मे रत रहता है, वही भिक्षु है।

(२९४)

जो हाथ, पाँव, वाणी और इन्द्रियो का यथार्थ सयम रखता है, जो सदा अध्यात्म-चिंतन मे ही रत रहता है, जो अपने-आपको

अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा,
सुत्तत्थ च वियाणइ जे स भिक्खू ॥७॥

(२६५)

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नायउंछं, पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए,
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥८॥

(२६६)

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे,
उंछं चरे जीविय नाभिकंखे ।
इड्ढिं च सक्कारण-पूयणं च,
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥९॥

(२६७)

न परं वइज्जासि अयं कुसीले,
जेणं च कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।
जाणिय पत्तेय पुण्ण-पावं,
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥१०॥

भली भाँति समाधिस्थ करता है, जो सूत्रार्थ का पूरा जाननेवाला है, वही भिक्षु है।

(२९५)

जो अपने सयम-साधक उपकरणों तक मे भी मूर्च्छा (आसक्ति) नही रखता, जो लालची नही है, जो अज्ञात परिवारो के यहाँ से भिक्षा माँगता है, जो सयम-पथ मे बाधक होनेवाले दोषो से दूर रहता है, जो खरीदने-बेचने और सग्रह करने के गृहस्थोचित धधो के फेर मे नही पडता, जो सब प्रकार से नि सग रहता है, वही भिक्षु है।

(२९६)

जो मुनि अलोलुप है, जो रसो मे अगृद्ध है, जो अज्ञात कुल की भिक्षा करता है, जो जीवन की चिन्ता नही करता, जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा का मोह भी छोड़ देता है, जो स्थितात्मा तथा निस्पृही है, वही भिक्षु है।

(२९७)

जो दूसरो को 'यह दुराचारी है' ऐसा नही कहता, जो कटु वचन —जिससे सुननेवाला क्षुब्ध हो—नही बोलता, 'सब जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख-दु ख भोगते है'—ऐसा जान-कर जो दूसरो की निन्द्य चेष्टाओ पर लक्ष्य न देकर अपने सुधार की चिता करता है, जो अपने-आपको उग्र तप और त्याग आदि के गर्व से उद्धत नही बनाता, वही भिक्षु है।

(२६८)

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जयंतो,
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥११॥

(२६९)

पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं,
न यावि हासंकुहए जे स भिक्खू ॥१२॥

(३००)

तं देहवासं असुइं असासयं,
सया चए निच्चहियट्ठियप्पा।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं,
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥१३॥

(२९८)

जो जाति का अभिमान नही करता, जो रूप का अभिमान नही करता, जो लाभ का अभिमान नही करता, जो श्रुत (पाडित्य) का अभिमान नही करता, जो सभी प्रकार के अभिमानो का परित्याग कर केवल धर्म-ध्यान मे ही रत रहता है, वही भिक्षु है।

(२९९)

जो महामुनि आर्यपद (सद्धर्म) का उपदेश करता है, जो स्वय धर्म मे स्थित होकर दूसरो को भी धर्म मे स्थित करता है, जो घर-गृहस्थी के प्रपच से निकलकर सदा के लिए कुशील लिग (निन्द्य वेश) को छोड देता है, जो किसीके साथ हँसी-ठट्ठा भी नही करता, वही भिक्षु है।

(३००)

इस भाँति अपने को सदैव कल्याण पथ पर खडा रखनेवाला भिक्षु अपवित्र और क्षणभगुर शरीर मे निवास करना हमेशा के लिए छोड देता है, जन्म-मरण के बन्धनो को सर्वथा काटकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

: २३ :

मोक्खमग्ग-सुत्तं

(३०१)

कह चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
कहं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ? ॥१॥

(३०२)

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ॥२॥

(३०३)

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ ।
पिहियासवस्स दन्तस्स पावं कम्मं न बन्धइ ॥३॥

(३०४)

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही किंवा नाहिइ छेय-पावगं ॥४॥

: २३ :

मोक्षमार्ग-सूत्र

(३०१)

भन्ते ! कैसे चले ? कैसे खडा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोये ? कैसे भोजन करे ? कैसे बोले ?—जिससे कि पाप-कर्म का बन्धन न हो।

(३०२)

आयुष्मन् ! विवेक से चले, विवेक से खडा हो; विवेक से बैठे, विवेक से सोये, विवेक से भोजन करे, और विवेक से ही बोले, तो पाप-कर्म नही बाँध सकता।

(३०३)

जो सब जीवो को अपने ही समान समझता है, अपने, पराये, सबको समान दृष्टि से देखता है, जिसने सब आस्रवो का निरोध कर लिया है, जो चंचल इन्द्रियो का दमन कर चुका है, उसे पाप-कर्म का बन्धन नही होता।

(३०४)

प्रथम ज्ञान है, पीछे दया। इसी क्रम पर समग्र त्यागीवर्ग अपनी संयम-यात्रा के लिए ठहरा हुआ है। भला, अज्ञानी मनुष्य क्या करेगा ? श्रेय तथा पाप को वह कैसे जान सकेगा ?

(३०५)

सोच्चा जाणइ कल्लाण, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥५॥

(३०६)

जो जीवे वि न जाणइ, अजीवे वि न जाणइ ।
जीवाऽजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं ॥६॥

(३०७)

जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाऽजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥७॥

(३०८)

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥८॥

(३०९)

जया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणइ ।
तया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणइ ॥९॥

(३०५)

सुनकर ही कल्याण का मार्ग जाना जाता है। सुनकर ही पाप का मार्ग जाना जाता है। दोनो ही मार्ग सुनकर ही जाने जाते है। वुद्धिमान साधक का कर्त्तव्य है कि पहले श्रवण करे और फिर अपने को जो श्रेय मालूम हो, उसका आचरण करे।

(३०६)

जो न तो जीव (चेतनतत्त्व) को जानता है, और न अजीव (जडतत्त्व) को ही जानता है, वह जीव अजीव के स्वरूप को न जानने-वाला साधक भला, किस तरह सयम को जान सकेगा ?

(३०७)

जो जीव को भी जानता है और अजीव को भी जानता है, ऐसा जीव और अजीव—दोनो को भलीभाँति जाननेवाला साधक ही सयम को जान सकेगा।

(३०८)

जब जीव और अजीव—दोनो को भलीभाँति जान लेता है, तव वह सब जीवो की नानाविध गति (नरक तिर्यंच आदि) को भी जान लेता है।

(३०९)

जब वह सब जीवो की नानाविध गतियो को जान लेता है, तव पुण्य, पाप, बन्धन और मोक्ष को भी जान लेता है।

(३१०)

जया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणइ ।
तया निव्विदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ॥१०॥

(३११)

जया निव्विदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं सब्भिन्तरं बाहिरं ॥११॥

(३१२)

जया चयइ संजोगं सब्भिन्तरं बाहिरं ।
तया मुण्डे भवित्ताणं पव्वयइ अणगारियं ॥१२॥

(३१३)

जया मुण्डे भवित्ताणं पव्वयइ अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१३॥

(३१४)

जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ॥१४॥

(३१०)

जब पुण्य, पाप, बन्धन और मोक्ष को जान लेता है, तब देवता और मनुष्यसम्बन्धी समस्त काम-भोगो को जान लेता है—अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है ।

(३११)

जब देवता और मनुष्यसम्बन्धी समस्त काम-भोगो से विरक्त हो जाता है, तब अन्दर और बाहर के सभी सासारिक सम्बन्धो को छोड़ देता है ।

(३१२)

जब अन्दर और बाहर के समस्त सासारिक सम्बन्धो को छोड़ देता है, तब मुण्डित (दीक्षित) होकर पूर्णतया अनागार वृत्ति (मुनि-चर्या) को प्राप्त करता है ।

(३१३)

जब मुण्डित होकर अनागार वृत्ति को प्राप्त करता है, तब उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है ।

(३१४)

जब उत्कृष्ट संवर एव अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब (अन्तरात्मा पर से) अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को झाड़ देता है ।

(३१५)

जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ॥१५॥

(३१६)

जया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ॥१६॥

(३१७)

जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ॥१७॥

(३१८)

जया जोगे निरुभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥१८॥

(३१९)

जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ ॥१९॥

(३१५)

जब (अन्तरात्मा पर से)अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को दूर कर देता है, तब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

(३१६)

जब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब जिन तथा केवली होकर लोक और अलोक को जान लेता है।

(३१७)

जब केवलज्ञानी जिन लोक अलोकरूप समस्त ससार को जान लेता है, तब (आयु समाप्ति पर) मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोधन कर शैलेशी (अचल-अकम्प) अवस्था को प्राप्त होता है।

(३१८)

जब मन, वचन और शरीर के योगो का निरोधन कर आत्मा शैलेशी अवस्था को पाती है—पूर्णरूप से स्पन्दन-रहित हो जाती है, तब सब कर्मो को क्षय कर—सर्वथा मल-रहित होकर सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होती है।

(३१९)

जब आत्मा सब कर्मो को क्षय कर—सर्वथा मलरहित होकर सिद्धि को पा लेती है, तब लोक के मस्तक पर—ऊपर के अग्र भागपर स्थित होकर सदा काल के लिए सिद्ध हो जाती है।

(३२०)

सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहाविस्स दुल्लहा सोग्गई तारिसगस्स ॥२०॥

(३२१)

तवोगुणपहाणस्स उज्जुमईखन्तिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणन्तस्स सुलहा सोग्गई तारिसगस्स ॥२१॥

(३२०)

जो श्रमण भौतिक सुख की इच्छा रखता है, भविष्यकालिक सुख-साधनो के लिए व्याकुल रहता है, जब देखो तब सोता रहता है, सुन्दरता के फेर मे पडकर हाथ, पैर, मुँह आदि धोने मे लगा रहता है, उसे सद्‌गति मिलनी बडी दुर्लभ है।

(३२१)

जो उत्कृष्ट तपश्चरण का गुण रखता है, प्रकृति से सरल है, क्षमा और सयम मे रत है, शान्ति के साथ क्षुधा आदि परीषहो को जीतनेवाला है, उसे सद्‌गति मिलनी बडी सुलभ है।

: २४ :

विवाद-सुत्तं

(३२२)

नत्थियवाओ

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया ।
पुढवी आऊ तेऊ वा, वाऊ आगासपंचमा ॥१॥

(३२३)

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥२॥

(३२४)

बम्हवाओ

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणा हि दीसइ ।
एवं भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणा हि दीसइ ॥३॥

: २४ :

विवाद-सूत्र

(३२२)

नास्तिक वाद

कितने ही लोगो की ऐसी मान्यता है कि इस ससार में जो कुछ भी है वह केवल पृथ्वी, जल, तेज, वायु और पाँचवाँ आकाश—ये पाँच महाभूत ही है।

(३२३)

उक्त महाभूतो मे से एक (आत्मा) पैदा होती है, भूतो का नाश होने पर देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है। [अर्थात्—जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है। वह पाँच महाभूतो मे से उत्पन्न होता है, और जब वे नष्ट होते है, तब उनके साथ ही स्वयं भी नष्ट हो जाता है।]

(३२४)

ब्रह्मवाद

जैसे, पृथ्वी का समूह (पृथ्वीस्तूप) एक (एकसमान) है, तो भी पर्वत, नगर, घट, शराव आदि अनेक रूपो मे पृथक्-पृथक् मालूम होता है, उसी तरह समस्त विश्व भी विज्ञ-स्वरूप (एक ही चैतन्य आत्मा के रूप में समान) है, तथापि भेद-बुद्धि के कारण वन, वृक्ष आदि जड तथा पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चैतन्य के रूप मे पृथक्-पृथक् दिखाई देता है।

(३२५)

तज्जीवतच्छरीरवाओ

पत्तेय कसिणे आया जे वाला जे य पण्डिया ।
सन्ति पिच्चा न ते सन्ति, नत्थि सत्तोववाइया ॥४॥

(३२६)

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इओऽवरे ।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥५॥

(३२७)

अकिरियावाओ

कुव्व च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई ।
एव अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिया ॥६॥

(३२५)

तज्जीवतच्छरीरवाद

ससार मे जितने भी शरीर है, वास्तव मे वे ही एक-एक आत्मा है—अर्थात् आत्मा या जीव जो कुछ भी है, यह शरीर ही है। शरीर-नाश के बाद मूर्ख या पडित, धर्मात्मा या पापी परलोक मे जानेवाला कोई भी नही रहता। क्योकि शरीर से पृथक् कोई भी सत्त्व (प्राणी) औपपातिक (एक जन्म से दूसरे जन्म मे उत्पन्न होनेवाला) नही है।

(३२६)

न पुण्य है, न पाप है, और न इन दोनो के फलस्वरूप प्रस्तुत दृश्य जगत् से अतिरिक्त परलोक के नाम से दूसरा कोई जगत् ही है। शरीर के नाश के साथ ही तत्स्वरूप देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है।

(३२७)

अक्रियावाद

आत्मा करनेवाला या करानेवाला—यो कहिए कि किसी भी प्रकार से कुछ भी क्रिया करनेवाला नही है। इसी भाति कितने ही प्रगल्भ (धृष्ट) होकर आत्मा को अकारक (अकर्त्ता) बतलाते है।

(३२८)

खधवाओ

पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खण-जोइणो ।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥७॥

(३२९)

निच्च-वाओ

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया ।
आयछट्ठा पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥८॥

(३३०)

दुहओ न विणस्सन्ति, नो य उप्पज्जए असं ।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियतिभावमागया ॥९॥

(३२८)

स्कन्धवाद

कितने ही वाल (अज्ञानी) ऐसा कहते है कि ससार मे मात्र रूपादि पाँच ही स्कन्ध है और वे सव क्षणयोगी—अर्थात् क्षण-क्षण मे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले है। इनके अतिरिक्त, सहेतुक या निर्हेतुक तथा भिन्न या अभिन्न—दूसरा कोई भी (आत्मा-जैसा) पदार्थ नही है।

(३२९)

नित्यवाद

कितने ही लोगो का ऐसा कहना है कि पाँच महाभूत है, और इनसे भिन्न चित्स्वरूप छठा आत्मा है। तथा ये सव आत्मा और लोक शाश्वत है—नित्य है।

(३३०)

यह जड़ और चैतन्य—उभयस्वरूप जगत् न तो कभी नष्ट होता है, न कभी उत्पन्न ही होता है। असत् की कभी उत्पत्ति नही होती, सत् का कभी नाश नही होता, इसलिए सव पदार्थ सर्वथा नियतता (नित्यता) को प्राप्त है।

(३३१)

नियतिवाओ

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥१०॥

(३३२)

सयं कडं न अण्णेहिं, वेदयन्ति पुढो जिया।
संगइयं तहा तेसिं, इहमेगेसिमाहिया ॥११॥

(३३३)

धाउ-वाओ

पुढवी आऊ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ।
चत्तारि धाउणो रूव, एवमाहंसु आवरे ॥१२॥

(३३१)

नियतिवाद

कितने ही ऐसा कहते है कि ससार मे जीवात्माएँ नैमित्तिक अथवा अनैमित्तिक जो भी सुख-दु ख का अनुभव करती है, तथा समय आने पर अपने स्थान पर च्युत होती है, वह सब आत्मा के अपने पुरुषार्थ से नही होता—नियति से ही होता है। अस्तु, जब अपने सुख-दु ख की आत्मा आप विधाता नही है, तब भला दूसरा कोई तो हो ही कैसे सकता है ?

(३३२)

जीवात्माएँ पृथक्-पृथक् रूप से जो सुख-दु ख का अनुभव करती है, वह न तो स्वकृत ही होता है और न परकृत ही। यह जो कुछ भी उत्थान या पतन हुआ करता है, सब सागतिक है—नियति से है। (जब जहाँ जैसा बननेवाला होता है, तब वहाँ वैसा ही नियति-वश बन जाता है। इसमे किसी के पुरुषार्थ आदि का कुछ भी वश नही चलता।)

(३३३)

धातु-वाद

दूसरे लोग ऐसा कहते है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु —इन चार धातुओ (धारक तथा पोषक तत्त्वो) का ही यह रूप (शरीर तथा ससार) बना हुआ है। इनके अतिरिक्त, दूसरा कुछ भी स्वतन्त्र पदार्थ नही है।

(३३४)

जग-हेतुवाओ

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसिमाहिया।
देव-उत्ते अयं लोए, बंभउत्ते य आवरे ॥१३॥

(३३५)

ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहाऽवरे।
जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए ॥१४॥

(३३६)

सयंभुणा कडे लोए, इइ वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुआ माया, तेण लोए असासए ॥१५॥

(३३७)

उवसंहारो

एवमेयाणि जम्पन्ता, बाला पंडियमाणिणो।
निययानियय सन्तं, अयाणन्ता अबुद्धिया ॥१६॥

(३३४)

जगत्कर्तृत्ववाद

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कितने ही लोगो का यह भ्रान्तिमय वक्तव्य है—

—"कोई कहते है कि यह लोक देवो ने बनाया है।"

—"कोई कहते है कि यह लोक ब्रह्मा ने बनाया है।"

(३३५)

—"कोई कहते है कि यह लोक ईश्वर ने बनाया है।"

—"कोई कहते है कि जड़ और चैतन्य से युक्त तथा सुख और दुःख से समन्वित यह लोक प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा बना है।"

(३३६)

—"कोई कहते है कि—यह लोक स्वयम्भू ने बनाया है, ऐसा हमारे महर्षि ने कहा है। अनन्तर मार ने माया का विस्तार किया—इस कारण लोक अशाश्वत (अनित्य) है।"

(३३७)

उपसंहार

अपने-आपको पण्डित माननेवाले बुद्धिहीन मूर्ख इस प्रकार की अनेक बाते करते है। परन्तु नियति क्या है और अनियति क्या, यह कुछ भी नही जानते, समझते।

(३३८)

ते नावि संधिं नच्चाण, न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ॥१७॥

(३३९)

नाणाविहाइ दुक्खाइ, अणुहोन्ति पुणो पुणो ।
संसारचक्कवालम्मि, मच्चुवाहिजराकुले ॥१८॥

(३४०)

उच्चावयाणि गच्छन्ता, गब्भमेस्सन्तिऽणन्तसो ।
नायपुत्ते महावीरे एवमाह जिणुत्तमे ॥१९॥

(३३८)

वे न तो ठीक-ठीक कर्म-सन्धि का ही ज्ञान रखते है, और न उन्हे कुछ धर्म का ही भान है। जो ऐसी अनर्गल बाते करते है, वे ससार (-समुद्र) से पार नही हो सकते।

(३३९)

जरा, मरण और व्याधि से पूर्ण ससार-चक्र मे वे लोग बार-बार नाना प्रकार के दुःख भोगते रहते है।

(३४०)

वे लोग कभी तो ऊँची योनि मे जाते है, और कभी नीची योनि मे जाते है। यो ही इधर-उधर परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार गर्भ मे पैदा होगे, जन्म लेगे और मरेगे—जिनश्रेष्ठ ज्ञातपुत्र महावीर स्वामी ने ऐसा कहा है।

: २५ :

खामणासुत्तं

(३४१)

सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहिअनिअचित्तो ।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥१॥

(३४२)

सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥२॥

(३४३)

आयरिए उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुल-गणे य ।
जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥३॥

(३४४)

खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ ॥४॥

(३४५)

जं जं मणेण बद्धं जं जं वायाए भासिअं पावं ।
जं जं काएण कयं मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥५॥

: २५ :

क्षमापन सूत्र

(३४१)

धर्म मे स्थिर बुद्धि होकर मै सद्भावपूर्वक सब जीवो के पास अपने अपराधो की क्षमा माँगता हूँ और उनके सब अपराधो को मै भी सद्भावपूर्वक क्षमा करता हूँ।

(३४२)

मै नतमस्तक होकर भगवत श्रमणसंघ के पास अपने अपराधो की क्षमा माँगता हूँ और उनको भी मै क्षमा करता हूँ ।

(३४३)

आचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण और सार्धमिक बन्धुओ तथा कुल और गण के प्रति मैने जो क्रोधादियुक्त व्यवहार किया हो उसके लिए मन, वचन और काय से क्षमा माँगता हूँ ।

(३४४)

मै समस्त जीवो से क्षमा माँगता हूँ और सब जीव मुझे भी क्षमा दान दें। सर्व जीवो के साथ मेरी मैत्रीवृत्ति है, किसी के भी साथ मेरा वैर नही है।

(३४५)

मैने जो जो पाप मन से—संकल्पित—किये है, वाणी से बोले है और शरीर ने किये है, वे मेरे सब पाप मिथ्या हो जायें।

पारिभाषिक शब्दों का अर्थ

सवर—अनासक्त प्रवृत्ति—आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति ।

अनुत्तर—उत्तमोत्तम ।

अनगार—जिसका अमुक एक घर नही है अर्थात् निरतर सविधि भ्रमणशील साधु ।

केवली—केवल ज्ञानवाला—सतत शुद्ध आत्मनिष्ठ ।

शैलेशी—शिलेश—हिमालय, हिमालय के समान अकप स्थिति ।

परीषह—जब साधक साधना करता है तब जो जो विघ्न आते है उनके लिए 'परीषह' शब्द प्रयुक्त होता है। साधक को उन सब विघ्नो को सहन करना ही चाहिए इसलिए उनका नाम 'परीषह' हुआ ।

औपपातिक—उपपात अर्थात् स्वर्ग मे या नरक मे जन्म होना। औपपातिक का अर्थ हुआ स्वर्गीय प्राणी या नारकी प्राणी ।

त्रस—धूप से त्रास पाकर छाँह का और शीत से त्रास पाकर धूप का आश्रय लेनेवाला प्राणी—त्रस ।

तिर्यंच—देव, नरक और मनुष्य को छोड़कर शेष जीवो का नाम 'तिर्यंच' है ।

निर्ग्रन्थ—गाँठ देकर रखने लायक कोई चीज़ जिनके पास नही है—अपरिग्रही—साधु ।

एषणीय—शोधनीय—खोज करने लायक—जिनकी उत्पत्ति दूषित है या नही इस प्रकार गवेषणा के योग्य ।

विड—गोमूत्रादिक द्वारा पका हुआ नमक ।

रजोहरण—रज को हरनेवाला साधन—जो आजकल पतली ऊन की डोरियो से बनाया जाता है—जैन साधु निरतर पास रखते है—जहाँ बैठना होता है वहाँ उससे झाड़कर बैठते है । जिसका दूसरा नाम 'ओघा'—'चरवला' है ।

आस्रव—आसक्ति युक्त अच्छी या बुरी प्रवृत्ति ।

द्वीन्द्रिय—स्पर्श और रस, इन दो इन्द्रियो वाले जीव—जैसे जोक इत्यादि ।

त्रीन्द्रिय—स्पर्श, रस और घ्राण इन तीन इन्द्रियो वाले जीव—जैसे चीटी आदि ।

चतुरिन्द्रिय—स्पर्श, रस, घ्राण और नेत्र—इन चार इन्द्रियो वाले प्राणी—जैसे भ्रमर आदि ।

किंपाकफल—जो फल देखने में और स्वाद में सुन्दर होता है पर खाने से प्राण का नाश करता है ।

पुद्गल—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द वाले जड पदार्थ या जड पदार्थ के विविध रूप ।

निर्जरा—कर्मो को नाश करने की प्रवृत्ति—अनासक्त चित्त से प्रवृत्ति करने से आत्मा के सब कर्म नाश हो जाते है ।

श्रद्धान—श्रद्धा—आप्त पुरुष मे दृढ विश्वास।

सचित्त—चित्तयुक्त—प्राणयुक्त—जीवसहित कोई भी पदार्थ।

अचित्त—सचित्त से उलटा—निर्जीव।

कषाय—आत्मा के स्वरूप को कष—नाश—करनेवाले, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार महादोष।

अगृद्ध—अलोलुप।

मति—इन्द्रियजन्य ज्ञान।'

श्रुत—शास्त्रज्ञान।

मन पर्यय—दूसरो के परोक्ष वा अपरोक्ष मन के भावो को ठीक पहचाननेवाला ज्ञान।

अवधि—रूपादियुक्त परोक्ष वा अपरोक्ष पदार्थ को जान सकनेवाला मर्यादित ज्ञान।

केवल—सब को जान सकनेवाला ज्ञान।

ज्ञानावरणीय—ज्ञान के आवरण रूप कर्म—ज्ञान, ज्ञानी वा ज्ञान के साधन के प्रति द्वेषादि दुर्भाव रखने से ज्ञानावरणीय कर्म बँधते है।

दर्शनावरणीय—दर्शनशक्ति के आवरणरूप कर्म।

वेदनीय—सासारिक सुख वा दु ख के साधनरूप कर्म।

मोहनीय—मोह को उत्पन्न करनेवाले कर्म—मोहनीय कर्म के ही प्राबल्य से आत्मा अपना स्वरूप नही पहचानता।

ऊनोदरी—भूख से कुछ कम खाना—उदर को ऊन रखना—पूरा न भरना।

सलेखना—कषाय का अन्त करने के लिए उसके निर्वाहक और पोषक आन्तर और बाह्य निमित्तो को घटाते हुए कषाय को पतला बनाने की—शरीर के अन्त तक चलती हुई प्रवृत्ति।

वैयावृत्य—बाल, वृद्ध,रोगी ऐसे अपने समान धर्मियो की सेवा।

लेश्या—आत्मा के परिणाम—अध्यवसाय।

समिति—शारीरिक, वाचिक और मानसिक सावधानता।

गुप्ति—गोपन करना—सरक्षण करना, मन, वचन और शरीर को दुष्ट कार्यो से बचा लेना।

ईर्या—गमन—आगमन वगेरे क्रिया।

एषणा—निर्दोष वस्त्र पात्र और खानपान की शोध करना।

आदान-निक्षेप—कोई भी पदार्थ को लेना या रखना—मूकना।

उच्चारसमिति—शौच क्रिया वा लघुशका अर्थात् किसी भी प्रकार का शारीरिक मल। मल को ऐसे स्थान में छोडना जहाँ किसी को लेश भी कष्ट न हो और जहाँ कोई भी आता जाता न हो और देख भी न सके।